निवेदन

भगवान् बुद्ध और उनके कुछ शिष्य-शिष्याओं की जीवन-स्मृतियाँ इन पृष्ठों में अङ्कित हैं। पहले तीन अध्यायों में सामान्यतः भगवान् बुद्ध की जीवन-विधि का वर्णन है। बाद के अध्यायों में चार भिक्षु, एक उपासक (गृहस्थ-शिष्य), तीन भिक्षुणियाँ और एक उपासिका, इस प्रकार नौ साधक-साधिकाओं के जीवन-चित्र उपस्थित किये गए हैं। इस प्रकार कुल १२ अध्याओं मे बौद्ध जीवन-विधि के प्रतिनिधि रूप को दिखाने का प्रयत्न किया गया है। वर्णन 'वाद' और सिद्धान्तों से मुक्त रहे, ऐसी लेखक की चेष्टा रही है।

भगवान् बुद्ध के विषय में यद्यपि आज हमारी उदासीनता कुछ कम हुई है, किन्तु पूर्वकालीन बौद्ध साधक और साधिकाएँ तो अब भी भारतीय साधना के उपेक्षितों में से ही हैं। ये वे आध्यात्मिक स्रोत हैं जो अभी हमारे लिए अज्ञात हैं। हम यह अनुभव नहीं करते कि यही वे आधार हैं जिन पर शास्ता ने अपने शासन की नींव रक्खी थी। शाक्य गोतम ने उरुवेला की भूमि में जिस ज्ञान का साक्षात्कार किया, वह उनके साधनाशील शिष्यों के माध्यम से ही समाज की शिराओं मे व्याप्त होकर उस चिर सुन्दर आलोक के रूप में फूट पड़ा, जिसे हम बौद्ध संस्कृति के सामूहिक नाम से पुकारते हैं। इस संस्कृति से एक बार समग्र भारतीय जीवन आलोकित हो उठा और उसकी अभिव्यक्ति बाद मे साहित्य, वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकारी आदि के रूप में न केवल भारत के ही, अपितु विश्व के एक विशाल भूखण्ड के निवासियों की सत्त्वशुद्धि और विकास के लिए हुई। उससे हमें अपनी मूलभूत समस्याओं के आज भी हल मिल सकते हैं, इसमें संदेह नहीं।

कहा गया है कि बहुतों के हित के लिए ही तथागत का आविर्भाव होता है। "बहूनं वत अत्थाय उप्पज्जन्ति तथागता।" बहुतों का, सब का, हित क्या है, इसके लिए आज हमारी भी खोज चल रही है। इस सम्बन्ध में हमें देखना चाहिए कि तथागत की क्या दृष्टि रही। फिर ऐसा भी लगता है कि तथागत के शिष्यों के रूप मे हम स्वयं ही रहे थे। यह अति-भावुकता नहीं कही जा सकती। सारिपुत्र, आनन्द और महाकाश्यप हमारे ही ढाई हजार वर्ष पूर्व के जन्मों के नाम हैं। हमें कम-से-कम अपने आप को तो पहचानना ही चाहिए।

यद्यपि सिद्धान्त-स्थापन की दृष्टि इन जीवनियों में नहीं है, परन्तु इतना तो माना ही जा सकता है कि भगवान् बुद्ध आर्य धर्म के एक महान् संशोधक थे। प्राचीन वैदिक साहित्य में मानवता के परिपूर्णता-विधायक जिन आदर्शों की स्थापना हुई है, उनका पूर्ण विकास हमें तथागत के जीवन में मिलता है। भगवान् ने स्वयं कहा भी था, "भिक्षुओ, इस लोक में तथागत ही अकेले आर्य हैं।" तथागत और उनके शिष्यों ने कहाँ तक आर्य जीवन-मार्ग को परिपूर्णता प्रदान की, पाठक इन पृष्ठों में देखेंगे।

प्रस्तुत जीवनियों के उपादान पालि-तिपिटक और उसकी अट्ठकथाएँ हैं। महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन और भिक्षु जगदीश काश्यप के अनुवादों तथा पालि 'डिक्शनरी ऑव प्रॉपर नेम्स' से लेखक को काफी सहायता मिली है। वह इन सबका हृदय से कृतज्ञ है।

भगवान् बुद्ध ने एक बार कहा था, "जिस समय आर्य साधक बुद्ध, धर्म और संघ की अनुस्मृति करता है, उस समय उसके चित्त में राग पैदा नहीं होता, द्वेष पैदा नहीं होता, मोह पैदा नहीं होता; बल्कि ऋजु, पवित्र मार्ग पर ही लगा हुआ उसका चित्त होता है।" यदि क्षण भर के लिए भी हमारी यह अवस्था साधित हो जाय तो हम सब ने बहुत कुछ कर लिया। राग, द्वेष और मोह से संकुल इस लोक को समता, प्रीति

और मैत्री-पूर्ण चित्त से भर देना, आच्छादित कर देना, भारी कृतकृत्यता है। इसके लिए श्रद्धा मिले, बल मिले, इसलिए ये अनुस्मृतियाँ हैं।

जैन कालेज
बड़ौत

—भरतसिंह उपाध्याय

विषय-सूची

बुद्ध और बौद्ध साधक

: १ :

बुद्ध के स्वभाव व जीवन की विशेषताएँ

भगवान् बुद्ध के स्वभाव और जीवन की महत्ता को पूरी तरह जानना दुष्कर है ! मानवीय बुद्धि उसे तौलना चाहती है; किन्तु उसके प्रयत्न में स्वयं तुल जाती है। धर्मसेनापति सारिपुत्र ने उसे एक बार बड़े उदार शब्दों में तौलना चाहा (महापरिनिब्बाण-सुत्त), किन्तु शास्ता के हाथों वे स्वयं तौले गये ! वास्तव में बुद्ध-शासन व्यक्ति-प्रधान है ही नहीं। वह विचार-प्रधान है। व्यक्तिगतरूप से गोतम भी एक मनुष्य मात्र हैं। किन्तु सम्यक् सम्बुद्ध होने के नाते वे विशुद्ध अनुभूति स्वरूप ही हैं; यही उनके जीवन का लोकोत्तर स्वरूप है। प्रकृत स्वभाव-अध्ययन तो हम द्वन्द्व-परिप्लुत मानवों का भी नहीं कर सकते, फिर उस महापुरुष के विषय में तो क्या कहना जो सभी बाह्य और आन्तरिक द्वन्द्वों की पहुंच से बाहर हो चुका था, सभी मानवीय असंगतियों का अतिक्रमण कर चुका था और जिसके लिये सुख-दुख-रूपी वेदनाओं का अनुभव करना ही बाकी नहीं बचा था ! अतः बुद्ध के चित्त की अवस्था को आज तक किसी ने आँख भर नहीं देखा। फिर भी चूंकि वह महापुरुष मनुष्यता और ज्ञान के एक नये युग का प्रवर्तक था और हम ज्ञान-संवेदन-शील मनुष्य हैं, अतः उसके पद-चिह्नों की कुछ खोज किये बिना हम नहीं रह सकते।

भगवान् बुद्ध ने बोधिसत्व होने की अवस्था में, अर्थात् जिस समय वे सम्यक् ज्ञान की खोज कर ही रहे थे, मनुष्य-जीवन के उन

सब आरोह-अवरोहों, विचिकित्साओं, भयों और विषमताओं को अनुभव किया था जो एक सत्य-गवेषक को कभी भी अनुभव करनी पड़ती हैं। उनके इस जीवन में मनुष्योचित विशेषताओं के साथ-साथ हम उन सब साधनाओं की चरम अभिव्यक्ति देखते हैं जो प्राग्बौद्ध-कालीन भारत में प्रचलित थीं। महाभिनिष्क्रमण-काल से लेकर उरुवेला की लोमहर्षक तपस्या तक के गोतम के जीवन में पूर्ववर्ती वैदिक और उत्तर वैदिक-कालीन साधनाओं का सारा इतिहास ही सन्निहित है, ऐसा हम कह सकते हैं। इसका क्रमिक वर्णन भी बड़ा लाभप्रद हो सकता है; किन्तु हम यहाँ गोतम के बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद के जीवन को लक्ष्य कर ही कुछ कहेंगे।

भगवान् बुद्ध के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता थी उनकी स्व-निरपेक्षता, उनके द्वारा—'अहं' का सम्पूर्ण विसर्जन और उनकी निःसङ्गता। 'गोतम बुद्ध' नाम का व्यवहार आज हम करते हैं; किन्तु यह केवल पहचान के लिये है। वास्तव में 'बुद्ध' के बाद 'गोतम' का अस्तित्व ही नहीं रह गया। ज्ञाता मिटकर स्वयं ज्ञान हो गया। विशुद्ध बोध ही 'बुद्ध' के रूप में मूर्तिमान् हो उठा। बेचारा शुद्धोदन इस तत्व को नहीं समझ सका। इसलिए उसे अपने पुत्र का कपिलवस्तु की गलियों में भिक्षापात्र लेकर निकलना अच्छा नहीं लगा। लेकिन जब उसे पता लगा कि मेरा पुत्र अब गोतम-वंश में नहीं, बल्कि बुद्ध-वंश में उत्पन्न हुआ है तो उसकी आँखें खुलीं। वह और उसके बाद उसकी पत्नी, जिन्होंने गोतम को गोद में खिलाया था, बुद्ध की शरण गए। बुद्ध की शरण जाना किसी व्यक्ति की शरण जाना नहीं था। वह विशुद्ध अनुभूति की महत्ता का स्वीकरण मात्र था सम्पूर्ण गोतम-परिवार के प्रति अब बुद्ध का एक नवीन दृष्टिकोण था। गोपा अब गोतम की प्रिय पत्नी नहीं थी। वह बुद्ध की असीम करुणा की पात्र साधिका थी। राहुल अब शाक्यराज का उत्तराधिकारी नहीं था। वह बुद्ध के उस अतुलनीय धर्मराज्य का अधिकारी

था जिसमें उसका प्रवेश कराने के लिये सारिपुत्र को प्रेरित करते हुए भगवान् ने कहा था, "सारिपुत्र! राहुल के केश काटकर इसे काषाय वस्त्र दो और भिक्षु पद में प्रतिष्ठित करो।" इतनी निर्ममता के साथ संसार के किसी महापुरुष ने अपने एकमात्र औरस पुत्र को बेघरबार की अवस्था में दीक्षित किया हो, ऐसा उल्लेख उसके इतिहास में नहीं है। अनासक्त भाव की चरम सीमा हमें बुद्ध-जीवन में मिलती है।

अपनेपन की भावना से तथागत ने अपने किसी कार्य को अनुरंजित नहीं होने दिया। वस्तुगत सत्य ही उनके लिये सब कुछ था, अपने व्यक्तित्व के भार से उसे बोझिल बनाने की उनकी प्रवृत्ति नहीं थी। इसीलिए उपदेश देते समय वह अक्सर कहा करते थे, "चाहे तथागत उत्पन्न हों, चाहे तथागत उत्पन्न न हों, किन्तु यह जो पदार्थों का नियम के अन्दर अवस्थित रहना है, वह तो ठहरेगा ही" (उप्पादा वा तथागतानं अनुप्पादा वा तथागतानं ठिता व सा धातु धम्मट्ठितता धम्मनियामता)। इसी प्रकार कालाम नामक क्षत्रियों के प्रति दिये हुए अपने प्रसिद्ध उपदेश में भगवान् ने व्यक्ति-निरपेक्षभाव से ही सत्य को खोजने का मार्ग दिखाया था। इस भाव की चरम अभिव्यक्ति तो हम उनके जीवन के अन्तिम अंश में ही देखते हैं। भगवान् शरीर छोड़नेवाले हैं। उनके अनुरक्त शिष्य आनन्द चिन्ता से उनसे पूछते हैं, "भन्ते! तथागत के शरीर का (दाह-संस्कार) हम कैसे करेंगे?" भगवान् का यही भावुकतारहित उत्तर होता, "आनन्द! तथागत की शरीर-पूजाकर तुम अपने आपको बाधा में मत डालो। तुम तो अपने लिये सच्चे पदार्थ की ही खोज में लगो। सच्चे पदार्थ के लिये ही प्रयत्नशील बनो। अपने आपको ही शरण बनाओ। अपने से अतिरिक्त किसी दूसरे की शरण मत जाओ।" इसी प्रकार आनन्द जब भगवान् से भिक्षु-संघ के लिये अन्तिम शब्द कहने के लिये प्रार्थना करते हैं तो कृपालु शास्ता का यही अनासक्त उत्तर होता

है, "आनन्द ! भिक्षु-संघ मुझ से क्या चाहता है ? जिसको ऐसा भान हो कि मैं भिक्षु-संघ को धारण करता हूँ अथवा कि भिक्षु-संघ मेरे उद्देश्य से है, वह अवश्य भिक्षु-संघ के लिये कुछ कहे। आनन्द ! तथागत को कभी ऐसा नहीं हुआ कि भिक्षु-संघ को मैं धारण करता हूं अथवा कि भिक्षु-संघ मेरे उद्देश्य से है । आनन्द ! तथागत भिक्षु-संघ के लिये क्या कहेंगे ?" इतनी अनासक्ति के साथ संसार के किसी धर्म-संस्थापक ने अपने द्वारा स्थापित संघ को छोड़ा हो, ऐसा हम नहीं कह सकते । आसक्ति की सूक्ष्म गन्ध तक भी हम बुद्ध-जीवन में कहीं नहीं पाते । यही कारण है कि अपने बाद संघ का संचालन करने के लिये उन्होंने जान-बूझकर किसी व्यक्ति को उसका नायक तक नहीं चुना । अमूर्त धर्म की देखरेख में ही उन्होंने संघ को छोड़ा । व्यक्तित्व की इतनी उपेक्षा की, धर्म के इतने बड़े शासन की, दुनिया के इतिहास में दूसरी मिसाल नहीं है ।

ऊपर बुद्ध के अनासक्त भाव और निःसङ्गता का किंचित् निदर्शन किया गया है । उससे यह भ्रम हो सकता है कि वे लोक-बाह्य आदर्श के पक्षपाती, मानवीय भावनाओं से रहित और नितान्त निवृत्ति-परायण महात्मा थे; परन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं थी । भगवान् बुद्ध देव थे, देवातिदेव थे, किन्तु देवतावत् पाषाण नहीं । वे बुद्ध होने के साथ-साथ परम अनुकम्पक शास्ता भी थे । मनुष्यता क्या चीज है, इसके लिये उनका जीवन पदार्थ-पाठ है । पूर्ण अनासक्त होते हुए भी भगवान् बुद्ध ने संघ की स्थापना की, प्रत्येक साधक-साधिकाओं के जीवन की अलग-अलग चिन्ता की और अपने स्वभाव की मृदुता से लोक-जीवन पर वह अमिट प्रभाव डाला जो आज भी बना हुआ है । बड़े-बड़े कामों की अपेक्षा अधिकतर छोटी-छोटी बातों में ही मनुष्य का स्वभाव अधिक प्रतिबिम्बित होता है। दूर से आये हुए भिक्षुओं से भगवान् सर्व प्रथम पूछते थे, "कहो भिक्षु ! कुशलता से तो हो ? रास्ते में कोई हैरानी तो नहीं हुई ?"

भिक्षा मिलने में दिक्कत तो नहीं हुई?" फिर कुछ इस प्रकार वार्तालाप चलता था, "भिक्षु! तुम्हारी आयु क्या है?" "भन्ते! मेरी आयु एक वर्ष की है।"* "भिक्षु! तुमने इतनी देर क्यों की?" "भन्ते! बहुत देर के बाद मैं सांसारिक भोगों के दोषों को समझ सका।" भिक्षुओं के प्रति भगवान् की बड़ी वत्सलता थी। जो महापुरुष अजातशत्रु जैसे पितृवधक और अम्बपाली, अभयमाता, विमला जैसी पाप-चारिणी स्त्रियों के प्रति भी अपूर्व करुणा और सान्त्वना का परिचय दे सकता था, वह अपने शिष्यों के प्रति पुत्र का-सा व्यवहार क्यों न करता? अनेक बार हम उन्हें रोगी भिक्षुओं की सेवा-शुश्रूषा करते देखते हैं। आनन्द के साथ एक रोगी भिक्षु की सेवा करने का प्रकरण तो अति प्रसिद्ध ही है। एक बार घर से अपमानपूर्वक निकाला हुआ व्यक्ति (पन्थक) भगवान् के निवास की ओर आ निकला। विहार के दरवाजे पर बैठा हुआ वह रो रहा था। "भगवान् वहां आये। उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रक्खा और मुझे बांहों से पकड़कर विहार के अन्दर ले गए। अनुकम्पा-पूर्वक शास्ता ने मुझे पैर पोंछने के लिए अँगोछा दिया।"† इसी प्रकार परिवार-वियोग के शोक से विक्षिप्त-मानसा पटाचारा को "भगिनी! अपनी चेतना को संभाल—" इस प्रकार आश्वासन देते हुए भगवान् ने अपने आश्रय में लिया था। भगवान् के शरीर छोड़ने के कुछ क्षणों पूर्व ही सुभद्र नामक परि-

---

* भिक्षुओं की आयु उनके भिक्षु-पद के संस्कार के समय से गिनी जाती थी, जन्म-काल से नहीं!

† भगवा तत्थ आगच्छि सीस मय्हं परामसि।
बाहाय मं गहेत्वान सङ्घारामं पवेसयि।
अनुकम्पाय मे सत्था पादासि पादपुञ्छनिं॥

थेरगाथा, गाथाएँ ५५८—६० (भिक्षु उत्तम द्वारा प्रकाशित संस्करण)।

व्राजक भगवान् के दर्शनों के लिये आया था। विचारवान् आनन्द ने उसे यह समझाकर भगवान् से मिलने से रोक दिया था कि इससे तथागत को तकलीफ होगी। "मित्र सुभद्र! तथागत को कष्ट मत दो। भगवान् थके हुए हैं।" भगवान् ने आनन्द की बात सुन ली। तुरन्त आनन्द को आज्ञा दी, "आनन्द! सुभद्र को मना मत करो। सुभद्र को तथागत के दर्शन पाने दो। सुभद्र परम ज्ञान की इच्छा से ही मुझे पूछने आया है। मुझे तकलीफ देने की उसकी इच्छा नहीं है।" आनन्द ने सुभद्र परिव्राजक को विज्ञापित किया, "जाओ मित्र सुभद्र! भगवान् तुम्हें मिलने की आज्ञा देते हैं।" परिव्राजक ने भगवान् की उस दशा में भी उनसे उपदेश ग्रहण किया। शास्ता के लिये उपदेश देने का कोई असमय नहीं था, यदि वे जानते कि इससे दूसरे को लाभ होगा। शिष्यों के समान ही उनको अपनी शिष्याओं पर भी अनुकम्पा थी। वे स्त्रियों की सामर्थ्य और ज्ञान के बड़े प्रशंसक थे। उनकी शिष्याओं में से अनेक पुरुषों तक को उपदेश देती थीं। धम्मदिन्ना और विशाख का संवाद इसका एक उल्लेखनीय उदाहरण है। इसके अतिरिक्त शुभा, सुमेधा, रोहिणी, शैला, सोमा, पटाचारा और महाप्रजापती गोतमी आदि अनेक भिक्षुणी महिलाएं तो उपदेश और जन-सेवा आदि का कार्य करती हुई विहरती थीं। तथागत के सभी शिष्य-शिष्याओं की अपने शास्ता में अपरिमित भक्ति और श्रद्धा थी। भगवान् के शरीर छोड़ने के समय हम देखते हैं कि उनका कोई शिष्य बांह पकड़ कर रो रहा है, कोई कटे वृक्ष की तरह पृथ्वी पर गिर रहा है, कोई धरती पर लोट रहा है। आनन्द तो विहार के भीतर जाकर खूंटी पकड़े रो रहे हैं। कुछ ऐसे भी वीतराग भिक्षु हैं जो स्मृति-सम्प्रजन्य-पूर्वक दुःख को सह रहे हैं। परन्तु शिष्यों पर पुत्रों का-सा प्रेम करने वाले तथागत का उनके प्रति यही आश्वासनकारी वचन होता है, "भिक्षुओ! क्या मैंने तुमसे पहले ही नहीं कह दिया है कि सभी प्रियों

से वियोग होता है। जो कुछ उत्पन्न होने वाला है वह सब नाश होने वाला है। हाय! वह नाश न हो, यह सम्भव नहीं।" इस समय भी भगवान् की इच्छा भिक्षुओं (और उनके निमित्त से भविष्य की जनता) के कल्याण की ही है, अपने अमरत्व साधन की नहीं। "इसलिए भिक्षुओ! मैंने जो धर्म उपदेश किया है, तुम अच्छी प्रकार उसे सीखकर उसका सेवन करना, भावना करना, बढ़ाना। शायद तुमको ऐसा हो कि हमारे शास्ता तो चले गए, अब हमारे शास्ता नहीं हैं। ऐसा मत समझना। मैंने धर्म और विनय के जो उपदेश दिए हैं, मेरे बाद वही तुम्हारे शास्ता होंगे।" धर्म सेनापति सारिपुत्र और मौद्गल्यायन के परिनिर्वाण के अवसर पर भगवान् ने उनके विषय में जो उद्गार प्रकट किये उनसे मालूम होता है कि वे अपने शिष्यों में कितनी अनुरक्ति रखते थे, किन्तु फिर भी उनकी मृत्यु पर "तथागत को शोक-परिदेव नहीं है।" यही पूर्ण मनुष्यता है। भगवान् के कोमल स्वभाव का एक उदाहरण और। चुन्द नामक लुहार के यहां भगवान् ने अन्तिम भोजन किया। उसके बाद उन्हें दस्त लग गए और फिर कहीं भोजन नहीं किया। शरीर छोड़ने से पूर्व भगवान् को यह आशङ्का हुई कि कहीं चुन्द लुहार इस बात को विचार कर अपने चित्त में दुःख न माने कि मेरे यहां भोजन कर तथागत ने शरीर छोड़ा। इसलिए भगवान् शरीर छोड़ने से पूर्व यत्नपूर्वक आनन्द को समझा जाते हैं, "आनन्द! चुन्द लुहार की इस चिन्ता को तू दूर करना और कहना—'मित्र! लाभ है तुझे, तूने सुलाभ कमाया, जो तेरे भोजन को खाकर भगवान् परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।" भिक्षुओं का भगवान् को इतना ध्यान रहता था कि भोजन से पूर्व अनेक बार हम उन्हें अपने उन भिक्षुओं के बारे में जो भोजन के समय उपस्थित नहीं हो सके, पूछताछ करते देखते हैं और जबतक वे नहीं आ जाते, भोजन आरम्भ नहीं किया जाता। इससे मालूम होता है कि भगवान् बुद्ध व्यवस्था सम्बन्धी छोटी-छोटी बातों में भी कितने सतर्क रहते थे।

विचार और कार्यव्यस्त जीवन मे विरोध नहीं है, परन्तु यदि विशेपता की दृष्टि से देखा जाय तो बुद्ध-जीवन विचार-प्रधान था, कार्य-प्रधान नहीं। प्रज्ञा उनके जीवन की मुख्य विशेपता थी, कर्म उसकी साधनावस्था मात्र था। यही कारण था कि सम्बोधि प्राप्त करने पर भगवान् को उपदेश देने की इच्छा नहीं हुई। वासना के क्षय का यह स्वाभाविक परिणाम था। सप्ताहों तक विमुक्ति-सुख का आनन्द लेते ही बैठे रहे। बुद्ध-नेत्रों से देखा कि संसार दुःखी है। प्राणी दुःख-विह्वल हो छटपटा रहे हैं। दुःख से निःसरण का मार्ग नहीं जानते। ज्ञानी ने शास्ता बनना स्वीकार कर लिया। ब्रह्मविद् महात्मा क्रियावान् हो गया। 'क्रियावानेप ब्रह्मविदां वरिष्ठः।' यह उपनिषद् की वाणी बुद्ध के रूप में सफलीभूत हो उठी। बाद के पैंतालीस वर्ष अहर्निश लोककल्याण के चिन्तन और उसके अनुकूल कार्य करने मे ही बीते। खाने, पीने, सोने आदि के समय को छोड़कर शास्ता का धर्मोपदेश सदा अखण्ड ही चलता रहा। पर इतने समय के अन्दर एक बार भी तथागत के अन्दर 'अहं' का भाव पैदा नहीं हुआ। केवल करुणा, परदुःख-कातरता, ही तथागत के इन कार्यों को प्रेरक बल देती रही। निरन्तर कार्यव्यस्त जीवन बुद्धत्व-ज्ञान को कलुपित नहीं कर सका। इसका साक्ष्य देते हुए भगवान् ने स्वयं कहा है, "भिक्षुओ! जिस चित्त-अवस्था से मैंने प्रथम बार अभिसम्बुद्ध होते समय विहार किया, चित्त की उसी विशेष अवस्था से मैं अपने शेष जीवन में भी विहरता रहा।" *इसी का साक्ष्य देते हुए उदायी स्थविर ने भी भगवान् के विषय में कहा है, "चलते हुए भी भगवान् समाधि में स्थित हैं, ठहरे हुए भी भगवान् समाधि में स्थित हैं, सोते हुए भी भगवान् समाधि में स्थित हैं, बैठे हुए भी भगवान् समाधि में स्थित हैं। सभी जगह भगवान् समाधि में स्थित हैं,

---

* "येन स्वाहं भिक्खवे विहारेन पठमाभिसम्बुद्धो विहरामि, तस्स पदेसेन विहासिं" (संयुत्त निकाय)

यही उनकी सम्पदा है।" थेरगाथा(६६६-६७)। महाकाश्यप ने भी इसी का साक्ष्य देते हुए कहा है, "सदा चरति निब्बुतो" अर्थात् महाज्ञानी बुद्ध सदा निर्वाण प्राप्ति की अवस्था में ही विहरते हैं। इसे ही हम गोतम का 'बुद्धत्व' कहते हैं।

भगवान् बुद्ध के विषय मे कहा गया है कि उनका कोई ऐसा छिपा हुआ कायिक या मानसिक कर्म नहीं था जिसके लिये उन्हें चित्त का सन्ताप उठाना पड़े या दूसरों के सामने लज्जित होना पड़े। उनका बाहर भीतर एक था। जिन नियमों का उन्होंने उपदेश दिया उनका स्वयं पूरा पालन किया। फिर भी वे अपने को अति-मानुषी कोटि में नहीं रखना चाहते थे। उनमे बुद्धत्व की पूर्ण क्षमता थी, किन्तु साथ ही अपूर्व विनम्रता भी। संयुत्त-निकाय का एक प्रसंग इस सम्बन्ध में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। एक दिन भगवान् पूर्णमासी के दिन खुली जगह में भिक्षुओं सहित बैठे हुए थे। सन्ध्या का समय था। भिक्षु लोग भविष्य के संयम के लिए अपने अपराधों की देशना (क्षमा-याचना) कर रहे थे। सबके बाद मे भगवान् ने भिक्षुओ को सम्बोधित किया, "भिक्षुओ! यदि मेरे अन्दर कोई काया सम्बन्धी, वाणी सम्बन्धी या विचार-सम्बन्धी दोष देखते हो तो मुझे बतलाओ।" इसी प्रकार जब एक बार एक ब्राह्मण ने भगवान् से पूछा, "भन्ते! क्या आप दिन में सोने की अनुमति देते हैं?" तो भगवान् ने अत्यन्त विनम्रता-पूर्वक और स्पष्टतापूर्वक स्वीकार किया—"पिछले गर्मी के महीने में, एकबार भिक्षा से लौटने के बाद, भोजन करने के पश्चात् मुझे स्मरण आता है, सीधे करवट से, स्मृति को सामने रखकर इन्द्रिय-संयमपूर्वक चौपेती लपेटी हुई चादर पर लेटते हुए अपना झपकी लगकर सो जाना।" अति-मानुषी शक्ति का भगवान तथागत ने कभी दावा नहीं किया। उन्होंने मानवीय पुरुषार्थ की महिमा गाते हुए सदा यही कहा कि उनके द्वारा जो कुछ लभ्य है वही उन्होंने पाया है। इसीलिए अपने आपको अन्य सब मनुष्यों के

साथ रखकर ही वे कहा करते थे, "भिक्षुओ ! चार आर्य-सत्यों के अज्ञान के कारण ही इस प्रकार दीर्घकाल से मेरा और तुम्हारा यह भटकना, संसरण, आवागमन हो रहा है।" मनुष्यता को जानने वाले डाक्टर ढालके ने ठीक ही कहा है—"यह उच्चतम है, इससे आगे कोई मनुष्य नहीं जा सकता।" (This is the highest, further can no man go.)

भगवान् बुद्ध के स्वभाव की एक विशेषता उनकी निःशब्द-प्रियता थी। तथागत एकांत में अभिरमण करते थे। भिक्षुओं से भरा हुआ उनका आश्रम भी प्रशांत, गम्भीर सरोवर की तरह निःशब्द होता था। एक बार राजा अजातशत्रु जीवक के साथ भगवान् के दर्शन के लिए गया था। कुछ रात हो गई थी। आश्रम निकट था, किन्तु चारों ओर सन्नाटा छा रहा था। राजनीति के वातावरण में पला हुआ अजातशत्रु शंकित हो उठा। कहीं जीवक उसके साथ छल तो नहीं कर रहा है? "आर्य जीवक ! मेरे साथ धोखा तो नहीं कर रहे ? यह कैसे सम्भव है कि जहां १२५० भिक्षुओं का विशाल जन-समुदाय हो वहां एक भी खांसने या छींकने का शब्द सुनाई न दे?" अजातशत्रु डर रहा था कि कहीं जीवक उसे शत्रु के हाथ में समर्पित करने तो नहीं जा रहा है! जीवक ने विश्वास दिलाते हुए कहा, "राजन्! सीधे चले आइए। डरिए नहीं। वह देखिए, आस्थान-मंडप में दीपक जल रहे हैं और पूर्व की ओर मुख किए भगवान् बैठे हुए हैं। उनके चारों ओर भिक्षुगण बैठे हैं।" शान्ति और सफाई बौद्ध विहारों की दो प्रधान विशेषताएँ थीं।

राग-द्वेष की निवृत्ति के लिये एकांतवास को भगवान् आवश्यक साधन मानते थे। सब दोषों से पूर्ण विमुक्त होकर भी वे एकांतवास करते थे। किस कारण? इसे व्यक्त करते हुए उन्होंने जानुश्रोणि नामक ब्राह्मण से कहा है, "ब्राह्मण! शायद तेरे मन में ऐसा हो—'आज भी श्रमण गोतम का राग नष्ट नहीं हुआ, द्वेष नष्ट नहीं हुआ, मोह नष्ट

नहीं हुआ, इसीलिए वह अरण्य, वनखंड और सूनी कुटिया का सेवन करता है।' ब्राह्मण ! इसे इस प्रकार नहीं जानना चाहिए। ब्राह्मण ! दो बातों के लिये मैं अरण्य सेवन करता हूं : इसी दृश्यमान शरीर के सुख-विहार के लिये और आगे आने वाली जनता पर अनुकम्पा के लिये, जिससे मेरा अनुसरण कर वह सुफल की भागी बने।"

भगवान् बुद्ध निन्दा और स्तुति दोनों से परे थे। एक बार सुनक्षत्र नामक लिच्छवि सरदार भिक्षु-संघ मे प्रविष्ट होने के बाद उसे छोड़कर चला गया और बुद्ध के विषय में प्रवाद फैलाने लगा कि इनका धर्म तो केवल इनकी बुद्धि की उपज है और ऐन्द्रिय अनुभूति से आगे गोतम का ज्ञान नहीं जाता। जब यह बात सारिपुत्र ने शास्ता को सुनाई तो उन्होंने कहा, "वह नासमझ मनुष्य क्रोध के वश मे हो गया है। क्रोध के कारण ही उसने ऐसा कहा है।" एक बार एक ब्राह्मण ने भगवान् को 'चोर' और 'गधा' तक कह दिया, किन्तु भगवान् ने उसे शान्तिपूर्वक सुनते हुए यही कहा, "गाली देनेवाले को जो लौट-कर गाली नहीं देता वह दुहरी विजय प्राप्त करता है।" भगवान् के श्वसुर ने जब उन्हें अपनी वैराग्य-वृत्ति के लिये कपिलवस्तु मे गालियाँ सुनाईं तो बदले मे उनके मुख से केवल मन्द मुस्कान ही वे निकाल सके। सम्भवतः बुद्ध का यह प्रथम बार स्मित प्रकट करना था। कुछ लोगों ने गोतम को 'वृषल' तक कहा, उन पर व्यभिचार के आरोप तक लगाये, दूसरों ने उन्हें 'भगवान्' 'महर्षि' 'देवातिदेव' कहकर पूजा, किन्तु भगवान् दोनों ही हालतों में पूर्ण अनासक्त रहे। अपने शिष्यों के लिये उनका कहना था, "भिक्षुओ ! यदि दूसरे लोग तुम्हारी निन्दा करें तो न तो तुम्हें इस कारण उनसे क्रोध और द्वेष ही करना चाहिए और न अपने हृदय में जलन ही अनुभव करनी चाहिए। इसी प्रकार यदि दूसरे लोग तुम्हारी प्रशंसा करें तो तुम्हें इस कारण प्रसन्न भी नहीं होना चाहिए।" कोशलराज प्रसेनजित् भगवान् के शरीर के प्रति अत्यन्त गौरव प्रदर्शित करता था, सिर से भगवान् के

पैरों में गिरता था, भगवान् के पैरों को मुख से चूमता था, हाथ से पैरों को दबाता था और अपना परिचय देते हुए कहता था, "भन्ते ! मैं राजा प्रसेनजित कौशल हूं।" किन्तु उसके आदरों को देखकर भगवान् को केवल यही होता था, "जो पहले ही त्याग दिया गया है, उसी के विषय में यह सब हो रहा है।"

भगवान् बुद्ध का जीवन सादगी का नमूना था। दिन में केवल एक बार भोजन करते थे। बुद्धत्व प्राप्ति के बीस वर्ष तक उन्होंने किसी गृहस्थ का दिया हुआ वस्त्र तक नहीं पहना। बोधिराजकुमार ने एक बार उनको अपने यहां निमन्त्रित किया और उनके स्वागतार्थ मार्ग में पाँवड़े बिछा दिये गए। विनम्र शास्ता ने उन पर चलना स्वीकार नहीं किया। उनके अभिप्राय को ज्ञापित करते हुए आनन्द ने राजकुमार से कहा, "राजकुमार ! चैल-पंक्ति को हटा लो। तथागत इस पर नहीं चलेंगे। तथागत भविष्य की जनता का विचार कर रहे हैं।" भगवान् भविष्य की जनता के लिये सादगी का आदर्श छोड़ना चाहते थे। जीवन के साधन (निःश्रय) जितने अल्प हों, उतने ही उन्हें अधिक पसंद थे। "अल्प, सुलभ, निर्दोष" वस्त्र-भोजनादि के विषय में यही उनका नियम था। खुली जगह में रहना उन्हें अधिक पसन्द था। अधिक रात तक वे प्रायः बाहर बैठे रहते थे। एक बार शिंशपा वन में हम उन्हें विहरते हुए देखते हैं। कड़ी सर्दी है। बर्फ जम रही है। धरती जानवरों के खुरों से ऊंची-नीची हो रही है। भगवान् पत्तों के आसन पर बैठे हुए ध्यान मे लीन हैं। एक मनुष्य वहां जाकर उन्हें पूछता है, "भन्ते ! क्या आप सुख से हैं ? एक हल्का वस्त्र आप पहने हुए हैं। पृथ्वी ऊंची-नीची है। पत्तियों का आसन भी पतला है। जाड़े की कड़ी हवा चल रही है।" भगवान् ने उत्तर दिया, "हां, मैं सुख से रहता हूं। संसार में जो सुख से रहने वाले मनुष्य हैं, उनमें से मैं एक हूं।"

भगवान् बुद्ध का उपदेश देने का ढङ्ग भी ध्यान देने योग्य है।

अक्सर उनका उपदेश संवादों के रूप में होता था। उनका प्रकृति-दर्शन बड़ा सूक्ष्म था। बीच-बीच में वे बड़ी मार्मिक उपमाएँ देते जाते थे। अपने विरोधी की स्थिति की परीक्षा करते-करते वे उस सिद्धान्त तक पहुंचते थे जिसे वे सिखाना चाहते थे। न्यग्रोध नामक परिव्राजक के प्रति दिया हुआ उनका उपदेश इस पद्धति का एक अच्छा उदाहरण है। उस समय भारत में ऐसे-ऐसे प्रतिवादि-भयङ्कर तार्किक मौजूद थे जो यहां तक कहने की धृष्टता करते थे, "यदि मैं अचेतन स्तम्भ से शास्त्रार्थ करूँ तो वह भी मेरे वाद से कम्पित हो जायगा, मनुष्य का तो कहना ही क्या?" ऐसे साधनाविहीन मनुष्य जो कोरे तार्किक थे तथागत की दृष्टि में 'मोघ पुरुष' (बेकार के आदमी) थे। भगवान् बुद्ध के विषय में कहा गया है कि उपदेश देते समय उनका वर्ण स्वर्ण के समान चमकता था और सिंह के समान उनका गम्भीर नाद होता था। दूसरे मतों के माननेवालों के साथ उनका सहानुभूति का व्यवहार था। उरुवेला काश्यप के, जिसे सारा अङ्ग और मगध देश पूजता था, सम्मान का भगवान् ने बड़ा ध्यान रक्खा। उन्हें अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाने की अपेक्षा नहीं थी। सिंह सेनापति से उन्होंने कहा कि बुद्ध-मत में दीक्षित होने के बाद भी उसे अपने पूर्व आचार्यों की सेवा करनी चाहिए और पहले की तरह ही उन्हें दान-मान से सत्कृत करना चाहिए। अपने अनेक शिष्यों से भगवान् ने ऐसे ही कहा। तथागत ने किसी सम्प्रदाय की निन्दा नहीं की। विवाद करना वे सत्य-गवेषणा का लक्षण नहीं मानते थे। उनका मार्ग मैत्री और करुणा का ही था।

भगवान् बुद्ध जीवन में तो महान् थे ही, मृत्यु में वे उससे भी महान् थे। वास्तव में तथागत की मृत्यु नहीं हुई। यदि बुद्ध का मरण होता तो बुद्ध-शासन का कोई अर्थ ही नहीं होता, वह बेकार की चीज़ होती। भगवान् बुद्ध ने जन्म, जरा, मरण से विमुक्ति सिखाई। क्या उन्होंने स्वयं उसे प्राप्त किया? उनका दूसरा जन्म हुआ या नहीं, यह तो हम नहीं कह सकते। यह तो विश्वास की ही चीज़ है; किन्तु क्या उन्होंने

जरा, मरण से विमुक्ति पाई ? अवश्य। बाहर देखने के लिये उनके शरीर में जरा और मरण के लक्षण प्रकट हुए। उनके रोग भी उत्पन्न हुआ, सख्त पीड़ा भी हुई; परन्तु तथागत को इनका संवेदन नहीं हुआ। 'अहंता' के पूर्णतया निरुद्ध हो जाने से, मन और इन्द्रियों के सम्पूर्ण संयम से, शरीर के विकार तथागत के चित्त में विकार पैदा नहीं कर सके। इसे ही हम विमुक्ति कहते हैं, जिसे तथागत ने शरीर रहते ही साक्षात्कार किया। उपनिषद् की भाषा में शरीरी होते हुए भी तथागत 'अशरीरी' जैसे हो गए, अतः सुख-दुःख का उन्होंने स्पर्श नहीं किया। ज्ञानी ने जीवित अवस्था में ही अभितः निर्वाण (परिनिर्वाण) का साक्षात्कार किया। कहा गया है कि दो अवसरों पर तथागत के शरीर का वर्ण अत्यन्त परिशुद्ध और उजला दिखाई देता है। एक समय जब कि वह सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करते हैं और दूसरे समय जब वह शरीर छोड़ते हैं। सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के समय निर्वाण का ही साक्षात्कार होता है, देह का स्थूल बन्धन फिर भी कुछ रहता ही है। देह के छूट जाने पर वह बन्धन भी टूट जाता है और महापरिनिर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। इसीलिए भगवान् के शरीर छोड़ने को हम मृत्यु न कहकर 'महापरिनिर्वाण' कहते हैं। इसीलिए बुद्ध का तेज इस समय सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करने के समय से भी अधिक होता है। इसी में बुद्ध-शासन की सारी सार्थकता छिपी हुई है। शास्ता ने अक्लान्त भाव से सम्बोधि प्राप्ति के काल से भी अधिक प्रसन्न और शुभ्र शरीर की कान्ति के साथ काल किया। उनके अन्तिम शब्द थे, "अप्रमाद के साथ जीवन के लक्ष्य का सम्पादन करो।" बुद्ध के वंशधर यदि प्रमादी न हो गए होते तो इतनी बार इतिहास में उनके अस्तित्व की ही आशङ्का क्यों पैदा होती, जीवन के लक्ष्य के सम्पादन की तो बात ही कहां ?

: २ :

भगवान् बुद्ध 'तथागत' क्यों कहलाते हैं?

'बुद्ध' के समान 'तथागत' भी भगवान् शाक्यमुनि का एक नाम है। वास्तव मे ये नाम व्यक्ति के नहीं, पद के हैं, जिन्हें कोई भी उस अवस्था पर पहुँच कर प्राप्त कर सकता है। 'बुद्ध' या 'तथागत' नाम भगवान् ने अपने माता-पिता से प्राप्त नहीं किया, न ज्ञातिबन्धुओ से, न शक्रादि देवताओं की अनुकम्पा से, न मनुष्यों की सभाओं से। अपने ही परिश्रम से, संयम और तप से, इसे उन्होंने अर्जित किया। उनके ज्ञानी शिष्य धर्म-सेनापति सारिपुत्र ने कहा भी है कि 'बुद्ध' यह नाम न तो देवी महामाया का दिया हुआ है, न महाराज शुद्धोदन का, न अस्सी हजार जाति-भाइयों का और न इन्द्रादि देवताओं का, बल्कि "यह तो बोधिवृक्ष के नीचे सर्वज्ञताज्ञान की प्राप्ति के साथ ही साक्षात्कार किया हुआ नाम है, जिसका आधार भगवान् की विमुक्ति ही है"—'विमोक्खन्तिकमेतं बुद्धानं भगवन्तानं बोधिया मूले सह सव्वञ्ञुतञाणस्स पटिलाभा सच्छिका पञ्ञत्ति यदिदं बुद्धो' ति।'

भगवान् ने सत्य (चार आर्य सत्यो) का बोध प्राप्त किया, स्वयं बोध प्राप्त कर जनता को उस का बोध कराया, इसीलिए वे 'बुद्ध' हैं। भगवान् ने 'तथता' का साक्षात्कार किया, इसीलिए वे 'तथागत' हैं। दोनों ही पद परम ज्ञान की प्राप्ति के सूचक है। फिर भी भगवान् अपने लिये बोलते समय 'बुद्ध' शब्द के बजाय अक्सर 'तथागत' शब्द का ही प्रयोग किया करते थे। "आनन्द! तथागत को धर्म मे आचार्य-मुष्टि (रहस्य) नहीं है।" "आनन्द! तथागत की बोधि पर विश्वास

करते हो।" आदि उद्गार पढते-पढते मनुष्य थकता ही नहीं। यहाँ ऐसा लगता है कि कोई व्यक्ति बोल ही नहीं रहा, विशुद्ध ज्ञान ही बोल रहा है। 'बुद्ध' शब्द के साथ 'तथागत' शब्द को मिलाकर जब भगवान् बोलते हैं तब तो काव्यमयता और भी अधिक बढ जाती है—"भिक्षुओ! पूर्ण पुरुष, तथागत, भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध को दो संकल्प अधिकतर हुआ करते हैं—प्राणियों के हित का संकल्प और एकान्त ध्यान का संकल्प।" आदि। कभी-कभी साधारण वार्तालाप करते समय (वेदान्त की भाषा में जिस समय उन्हें देहाध्यास उपस्थित रहता था) भगवान् अपने लिये 'मैं' शब्द का भी प्रयोग करते थे, जैसे "आनन्द! मेरे लिये चौंपेती सङ्घाटी बिछा दो। मैं थक गया हूं, बैठूँगा।" आदि। बुद्धत्व-प्राप्ति से पहले की अवस्था का वर्णन करते हुए भी भगवान् अपने लिये 'मैं' शब्द का प्रयोग करते थे। जहाँ कहीं अपने लिये 'तथागत' कहकर भगवान् ने प्रथम पुरुष में धर्म-देशना की है, वहाँ निश्चय ही उनकी अविचल चित्त-विमुक्ति की सूचना मिलती है। ऐसे स्थल त्रिपिटक में (विशेषतः सुत्त-पिटक में) अनेक हैं और उन्हें पढते-पढते मनुष्य दिव्य आध्यात्मिक लोक मे पहुँचता है।

आचार्य बुद्धघोष ने विस्तार से उन कारणों का उल्लेख किया है जिनके कारण भगवान् बुद्ध 'तथागत' कहलाते हैं। दीघ-निकाय की अट्ठकथा 'सुमङ्गलविलासिनी' में उन्होंने इस विषय का विशद विवेचन किया है और अन्यत्र भी उसे दुहराया है।

आचार्य बुद्धघोष के मतानुसार निम्नलिखित आठ कारणों से भगवान् बुद्ध 'तथागत' कहलाते हैं :

(१) भगवान् बुद्ध उसी प्रकार (तथा) आये (आगत) जिस प्रकार अन्य पूर्व के ज्ञानी पुरुष।

(२) भगवान् बुद्ध उसी प्रकार (तथा) गए (गत) जिस प्रकार अन्य पूर्व के ज्ञानी पुरुष।

(३) भगवान् बुद्ध 'तथा' (सत्य) के लक्षण से 'आगत',

समन्नागत, या युक्त हैं।

(४) भगवान् बुद्ध ने 'तथा धर्म' का ज्ञान प्राप्त किया है।

(५) भगवान् बुद्ध ने 'तथा' का साक्षात्कार किया है।

(६) भगवान् बुद्ध 'तथा' का उपदेश करते हैं।

(७) भगवान् का आचरण 'तथा' है।

(८) भगवान् सबके ऊपर विजयी हैं।

इनकी संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है :

(१) भगवान् बुद्ध उसी प्रकार आये जैसे अन्य ज्ञानी पुरुष, इसका अर्थ यह है कि भगवान् बुद्ध ने भी उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त किया जिस प्रकार अन्य ज्ञानी पुरुषों ने, अर्थात् दान, शील, वैराग्य, दृढ़ निश्चय, मैत्री, क्षमा, वीर्य आदि दस पारमिताओं द्वारा, अनेक बार अपने शरीर के बलिदानों द्वारा, ध्यान-अभ्यास के द्वारा, ज्ञान के सात अङ्गों के अभ्यास के द्वारा, आदि। इसलिए अन्य ज्ञानी साधकों ने जिस प्रकार सम्यक् ज्ञान को प्राप्त किया उसी प्रकार (तथा) ज्ञान प्राप्त (आगत) करने के कारण भगवान् बुद्ध 'तथागत' कहलाते हैं।

(२) भगवान् बुद्ध उसी प्रकार गए जिस प्रकार अन्य ज्ञानी पुरुष, इसका अर्थ यह है कि भगवान् ने अपने जीवन में वही मार्ग स्वीकार किया जो अन्य ज्ञानी पुरुषों ने। कौनसा वह जीवन मार्ग है जिसे भगवान् बुद्ध ने उसी प्रकार स्वीकार किया, जैसे अन्य ज्ञानी पुरुषों ने ? वैराग्य के द्वारा कामनाओं का परित्याग, क्षमा के द्वारा क्रोध का परित्याग, मित्रता के द्वारा द्वेष का परित्याग, प्रेम के द्वारा घृणा का परित्याग, अप्रमाद के द्वारा प्रमाद का परित्याग, धर्म-विश्लेषण के द्वारा संशय का परित्याग, आदि। इस मार्ग पर भगवान् बुद्ध उसी प्रकार (तथा) चले (गत) जैसे अन्य ज्ञानी पुरुष। अतः वे 'तथागत' कहलाते हैं।

(३) 'तथा' (सत्य) के लक्षण से युक्त होने के कारण भगवान् बुद्ध 'तथागत' हैं, इसका तात्पर्य यह है कि भगवान् को जीवन और

जगत् का वैसा ही ज्ञान प्राप्त है, जैसा कि वह वास्तव में है

(४) भगवान् ने 'तथा धर्म' का ज्ञान प्राप्त किया है, इसका तात्पर्य यह है कि भगवान् ने चार आर्य सत्यों का ज्ञान प्राप्त किया है। चार आर्य-सत्य ही 'तथा धर्म' हैं।

(५) भगवान् ने 'तथा' का पूर्ण साक्षात्कार किया है, इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यों और देवताओं के लोक में जो कुछ भी जानने, देखने, सुनने और विचार करने योग्य है, वह सब भगवान् बुद्ध का जाना, देखा, सुना और विचारा हुआ है। उनसे दश-साहस्री-लोक-धातु में अविदित कुछ भी नहीं है।

(६) 'तथा' (सत्य) का भगवान् उपदेश करते हैं, इसका तात्पर्य यह है कि सम्बोधि प्राप्त करने के समय से लेकर महापरिनिर्वाण में प्रवेश करने के समय तक भगवान् जो कुछ कहते या उपदेश करते हैं वह सब तथा (वैसा ही—सत्य) होता है और काम, द्वेष, मोह को नष्ट करने वाला तथा ज्ञान और शान्ति को प्राप्त कराने वाला होता है।

(७) 'तथा' (सत्य) ही भगवान् का आचरण है, इसका तात्पर्य यह है कि जैसा भगवान् का उपदेश है, वैसा ही उनका आचरण है और जैसा उनका आचरण है, वैसा ही उनका उपदेश है।

(८) सबके ऊपर भगवान् विजयी हैं, इसका तात्पर्य यह है कि भगवान् लोक में अग्र हैं, ज्येष्ठ हैं। यह उनका अन्तिम जन्म है। अब उन्हें और जन्म लेना नहीं है। अवीची नरक से लेकर ब्रह्मलोक तक सबको उन्होंने अपने सदाचार, समाधि और प्रज्ञा के बल से जीत रक्खा है। वे देवों के भी देव, ब्रह्माओं के भी ब्रह्मा और इन्द्रों के भी इन्द्र हैं।

बुद्धघोष महास्थविर ने 'तथागत' शब्द की जो व्याख्या की है, वह कोरे निरुक्तिकार की व्याख्या नहीं है। वह उनकी कल्पना से भी प्रसूत नहीं है। हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि भगवान् बुद्ध जब अपने लिये 'तथागत' शब्द का प्रयोग करते थे तो उपर्युक्त सब अर्थों

की अभिव्यक्ति उनके उस शब्द में रहती थी, जिसे केवल एक व्यवस्थित रूप ही आचार्य बुद्धघोष ने दिया है। भगवान् का नीचे उद्धृत वचन इस तथ्य को प्रकाशित करेगा—

"भिक्षुओ ! तथागत ने संसार का पूरा ज्ञान प्राप्त किया है। संसार से तथागत अनासक्त हैं। भिक्षुओ ! संसार की उत्पत्ति का तथागत ने पूरा ज्ञान प्राप्त किया है। संसार की उत्पत्ति तथागत के लिये नहीं रही।

"भिक्षुओ ! संसार के निरोध का तथागत ने पूरा ज्ञान प्राप्त किया है। संसार का निरोध तथागत का साक्षात्कार किया हुआ है।

"भिक्षुओ ! संसार के निरोध की ओर ले जाने वाले मार्ग का तथागत ने पूरा ज्ञान प्राप्त किया है; संसार के निरोध की ओर ले जाने वाला मार्ग तथागत का विकसित किया हुआ है।

"भिक्षुओ ! देव, मार, ब्रह्मा, श्रमण और ब्राह्मणों के सहित सारे मनुष्य-लोक में जो कुछ भी देखा हुआ, सुना हुआ, विचारा हुआ, जाना हुआ, प्राप्त किया हुआ, खोज किया हुआ, या मन से सोचा हुआ है, वह सब तथागत को पूर्णतः ज्ञात है। इसीलिए वे 'तथागत' कहलाते हैं।

"भिक्षुओ ! जिस रात तथागत सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करते हैं और जिस रात वे अनुपाधिशेष निर्वाण-धातु में प्रवेश करते हैं, उसके बीच वे जो कुछ भी कहते हैं, भाषण करते हैं, निर्देश करते हैं, या उपदेश करते हैं वह सब वैसा ही (तथा) होता है, दूसरी तरह (मिथ्या) नहीं। इसीलिए वे 'तथागत' कहलाते हैं।

"भिक्षुओ ! जैसा तथागत उपदेश करते हैं वैसा ही आचरण करते हैं; जैसा आचरण करते हैं वैसा ही उपदेश करते हैं। अतः जैसा कहने वाले, वैसा ही करने वाले और जैसा करने वाले, वैसा ही कहने वाले होने के कारण वे 'तथागत' कहलाते हैं।

"भिक्षुओ ! देव, मार, ब्रह्मा, श्रमण और ब्राह्मणों के सहित सारी मानुषी और दैवी प्रजा में तथागत सबके ऊपर विजय प्राप्त करने वाले

हैं। उनके ऊपर विजय प्राप्त करने वाला कोई नहीं है। वे सुनिश्चित ज्ञान-युक्त, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हैं। अपने आपको वश में रखने वाले हैं, उनको वश में रखने वाला दूसरा कोई नहीं है। इसीलिए वे 'तथागत' कहलाते हैं।"

: ३ :

तथागत का ईर्यापथ

ईर्यापथ का साधारण अर्थ है शारीरिक चाल-ढाल। वैसे पालि-साहित्य में चार ईर्यापथ माने गए हैं—चलना, खड़ा होना, बैठना और लेटना। यही 'चार ईर्यापथ' (चतु इरियापथ) कहलाते हैं। तात्पर्य किसी व्यक्ति की रहन-सहन के साधारण ढंग से है। इसी अर्थ मे हम यहाँ तथागत के ईर्यापथ का वर्णन करेंगे।

भगवान् बुद्ध की दिनचर्या पाँच भागों में बँटी हुई थी: (१) भोजन से पूर्व के कृत्य (२) भोजनोपरान्त के कृत्य (३) रात के पहले पहर के कृत्य (४) रात के बीच के पहर के कृत्य, और (५) रात के अन्तिम पहर के कृत्य। प्रातःकाल बहुत सवेरे भगवान् जग जाते थे। शौचादि से निवृत्त होकर स्नान करते थे। इस समय वे किसी सहायक को न बुलाकर सब काम अपने हाथ से ही करते थे। स्नान करने के बाद कपड़े पहन कर वे किसी एकान्त स्थान में ध्यान करने के लिये चले जाते थे। वहाँ उस समय तक रहते थे जबतक भिक्षा के लिये जाने का समय नहीं हो जाता था। भिक्षा-समय के उपस्थित होने पर तथागत पूरी तरह अपने तीनों कपड़ों को पहनते थे, कमर मे कमरबन्ध बाँधते थे और हाथ मे भिक्षा-पात्र लेकर कभी अकेले और कभी भिक्षु-संघ या कुछ भिक्षुओं के साथ पास के गाँव या शहर में भिक्षा के लिये निकल पड़ते थे। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि प्रातःकाल के ध्यान और भिक्षा के लिए जाने के समय के बीच वे कुछ समय निकाल लेते थे जिसमे वे पड़ोस के आदमियों या भिक्षुओं से मिलने और उनकी

दशा जानने के लिये जाया करते थे। भिक्षा-पात्र हाथ में लिए, नीची दृष्टि किये, तथागत आर्य मौन-भाव से गृहस्थों के घर के दरवाजे पर खड़े हो जाया करते थे। गृहस्थ लोग भी उनके गौरव के विचार से उनके पात्र को अपने हाथ में ले लेते थे और आसन बिछा कर उन्हें और उनके साथी भिक्षुओं को भोजन से तृप्त करते थे। भोजन से हाथ खींच लेने पर तथागत भोजन का अनुमोदन करते थे और भोजन देने वाले को उसकी योग्यता के अनुसार उपदेश देते थे। इसी समय कुछ गृहस्थ लोग शीलों को ग्रहण करने का व्रत लेते थे और कुछ तो बुद्ध, धर्म और सङ्घ की शरण चले जाते थे। उपदेश देकर भगवान् अपने आसन को छोड़ कर चल देते थे और जहाँ उस समय ठहरे हुए होते थे, चले जाते थे। यह भगवान् का भोजन से पूर्व का कृत्य था।

विहार में पहुँच कर उस समय तक भगवान् बरामदे (अलिन्द) में ही बैठते थे जबतक अन्य सभी भिक्षु भोजन को समाप्त कर वहाँ उपस्थित न हो जायँ। जब सब भिक्षु वहाँ इकट्ठे हो जाते थे तो भगवान् गन्ध-कुटी में प्रवेश करते थे। बिछे आसन पर बैठ कर वह अपने पैर धोते थे। फिर गन्धकुटी के जीने पर खड़े हो कर भिक्षुओं को उदात्त जीवन बिताने और निर्वाण-साधन के लिये कठिन पुरुषार्थ करने के लिये प्रेरित करते थे। अक्सर वह कहते थे, "बुद्धों का उत्पन्न होना दुर्लभ है, मनुष्य-जीवन का पाना दुर्लभ है, ऐसा अच्छा अवसर पाना दुर्लभ है, भिक्षु होना दुर्लभ है, सद्धर्म का सुनना भी दुर्लभ है।" भिक्षु लोग भगवान् से कर्म-स्थानों (समाधि के विषयों) के विषय में पूछते थे। भगवान् हरएक को उसकी योग्यता के अनुसार ध्यान करने के लिए विषय बताते थे। फिर भिक्षु एकान्त जंगल में भगवान् के बताये ढङ्ग से ध्यान करने के लिये चले जाते थे। उनके चले जाने पर भगवान् गन्धकुटी में कुछ देर तक सीधे करवट लेट कर, स्मृति को सामने रख कर, काया की प्रश्रब्धि के साथ आराम करते थे। अक्सर आराम न कर

उन्हें हम दोपहर की कड़ी धूप में समाधि लगाये हुए भी देखते हैं। कभी-कभी हम इसी समय भगवान् के दर्शनार्थ आये हुए किसी आगन्तुक से भगवान् के परिचारक शिष्य आनन्द को यह कहते पाते हैं, "देखो, यह द्वार बन्द कोठरी है। वहाँ चुपके से धीरे जाकर, बरामदे में प्रवेश कर, खाँस कर जंजीर को खटखटाना। भगवान् तुम्हारे लिये द्वार खोल देंगे।" अपने शरीर को कुछ विश्राम देकर भगवान् बुद्धनेत्रों से संसार के प्राणियों को देखते थे। फिर बाहर इकट्ठे हुए आदमियों को धर्मोपदेश करते थे। धर्मोपदेश सुनकर जनता भगवान् को प्रणाम कर चली जाती थी।

इस प्रकार भोजनोपरान्त के कृत्य को समाप्त कर यदि शास्ता नहाना चाहते तो बुद्धासन से उठकर स्नानागार में चले जाते थे। उनका सेवक-शिष्य उनके आसन को लेकर गन्धकुटी-परिवेण में रख देता था। भगवान् लाल दुपट्टा पहन, काय-बन्धन बाँध कर, उत्तरासंग को इस तरह पहन कर, जिससे एक कन्धा खुला रहे, वहाँ आकर बैठते थे। अकेले कुछ काल ध्यानावस्थित होते थे। तब भिक्षु जहाँ-तहाँ से भगवान् की सेवा के लिये आते थे। कोई उनसे प्रश्न पूछते थे, कोई कर्मस्थान (समाधि के विषय) पूछते थे, कोई धर्मोपदेश सुनना चाहते थे। भगवान् उनकी इच्छा को पूरी करते हुए रात के पहले पहर को समाप्त करते थे।

जब भिक्षु लोग वहाँ से चले जाते थे तो कहा जाता है कि रात का मध्यम याम भगवान् विश्व-लोकों से आये हुए देवताओं को उपदेश देने और उनके प्रश्नों के उत्तर देने में व्यतीत करते थे। रात के पिछले पहर से पहला भाग तो भगवान् ध्यान करते हुए घूमने में बिताते थे। दूसरे याम में गन्ध-कुटी में सीधी तरफ़ कुछ लेटते थे और तीसरे भाग में भिक्षुओं की नैतिक प्रगति के बारे में सोचते थे। यह भगवान् की साधारण दिन-चर्या थी। इससे उनके दैनिक जीवन का कुछ चित्र हमारे सामने आता है। उनके ईर्यापथ का इससे भी अधिक

सजीव चित्र उत्तर माणवक नामक एक ब्राह्मण-विद्यार्थी ने दिया है, जिसे उसके गुरु (ब्रह्मायु नामक ब्राह्मण) ने गोतम बुद्ध की परीक्षा लेने भेजा था। उत्तर माणवक ने एक समालोचक की दृष्टि से भगवान् को जाते हुए भी देखा, खड़े हुए भी देखा, गन्धकुटी में प्रवेश करते हुए भी देखा, गृहस्थों के घर में चुपचाप बैठे भी देखा, भोजनोपरान्त भोजन का अनुमोदन करते भी देखा, आराम (विहार) को जाते भी देखा, आराम के भीतर चुपचाप बैठे भी देखा, आराम के भीतर परिषद् को धर्मोपदेश करते भी देखा, सारांश यह कि उसने तथागत के चरित्र या चारित्र्य की पूरी जांच-पड़ताल की। उसने जो कुछ देखा उसका यह चित्र वह हमारे लिये छोड़ गया है :

"वह भगवान् चलते समय पहले दाहिना पैर उठाते हैं। वह न बहुत दूर से पैर उठाते हैं, न बहुत समीप रखते हैं। वह न अति शीघ्र चलते हैं, न अति धीरे से चलते हैं। न जानु से जानु रगड़ कर चलते हैं, न गुल्फ (घुट्टी) से गुल्फ रगड़ कर चलते हैं। चलते वक्त वह न उरु को ऊपर उठाते हैं, न उसे नवाते हैं, न घुमाते हैं, न हिलाते हैं। चलते वक्त गोतम का निचला शरीर ही हिलता है, वे शरीर को फेंकते नहीं चलते। बिना अवलोकन करते वह गोतम सारी काया से अवलोकन करते-से हैं। वह न ऊपर की ओर अवलोकन करते हैं, न नीचे की ओर अवलोकन करते हैं, न चारों ओर देखते चलते हैं। सिर्फ चार हाथ (युगमात्र) आगे देखते हैं, इसके आगे उनकी खुली ज्ञान-दृष्टि होती है।

"गृहस्थों के घर के भीतर वह न काया का उन्नामन (उठाना) करते हैं, न अवनामन (नीचे करना) करते हैं, न काया को सन्नामन (घुमाना) करते हैं, न विनामन (हिलाना) करते हैं। वह न आसन से दूर, न अति समीप काया को पलटते हैं। न हाथ का सहारा लेकर आसन पर बैठते हैं, न आसन पर काया को फेंकते से हैं। वह घर के भीतर न हाथ की चंचलता दिखलाते हैं, न पैर की चंचलता दिखलाते हैं, न जानु पर जानु रख कर बैठते हैं, न घुट्टी को घुट्टी पर चढ़ा कर

बैठते हैं, न हाथ को ठुड्डी पर रखकर बैठते हैं। वह घर में बैठे हुए न स्तब्ध होते हैं, न काँपते हैं, न हिलते हैं, न चंचलता (परित्रास) को उत्पन्न करते हैं। वह स्तब्धता से रहित, कम्पन से रहित, परित्रास-रहित, रोमांच-रहित, विवेकयुक्त हो घर के अन्दर बैठते हैं।

"वह पात्र में जल ग्रहण करते समय न पात्र को ऊपर उठाते हैं, न पात्र को नवाते हैं, न घुमाते हैं, वह भात (ओदन) न बहुत कम ग्रहण करते हैं, न बहुत अधिक। गोतम व्यंजन (साग-तरकारी) को व्यंजन की मात्रा से ग्रहण करते हैं। ग्रास में अधिक मात्रा में व्यंजन ग्रहण नहीं करते। दो-तीन बार मुख में ग्रास को, चबाकर गोतम खाते हैं। भात का जूठन अलग होकर उनके शरीर पर नहीं गिरता। भात का जूठन मुँह में बचे रहते वह दूसरा ग्रास मुँह में नहीं डालते। रस को प्रतिसंवेदन (अनुभव) करते ही गोतम आहार ग्रहण करते हैं, किन्तु रस में राग को प्रतिसंवेदन नहीं करते। गोतम आठ बातों से युक्त हो कर आहार ग्रहण करते हैं—(१) न चपलता के लिए (२) न मद के लिए (३) न मंडन के लिए (४) न विभूषण के लिए (५) जितना आहार इस काया की स्थिति और (६) यापन के लिए (७) भूख की पीडा की शान्ति के लिए, और (८) ब्रह्मचर्य की सहायता के लिए आवश्यक है, उतना ही आहार वह ग्रहण करते हैं। इस प्रकार भोजन करते हुए वे सोचते हैं—इस आहार से मेरी पुरानी वेदनाएँ हटेंगी, नई वेदनाएँ उत्पन्न न होंगी, मेरी शरीर-यात्रा भी होगी, निर्दोषता और सरल विहार भी होंगे।

"वह भोजन के बाद जल ग्रहण करते समय न जल को उछालते हैं, न नीचे गिराते हैं, न इधर-उधर घुमाते हैं, न हिलाते हैं। वह न पात्र को बुलबुल् करके धोते हैं, न उलटते हुए धोते हैं। न पात्र को भूमि पर फेंककर हाथ धोते हैं। उनके हाथ धोते समय पात्र धुल जाते हैं, पात्र-धोते समय हाथ धुल जाते हैं। वह पात्र के जल को न अति दूर से छोडते हैं, न अति समीप से, न घुमाते ही छोडते हैं। वह भोजन कर

चुकने पर न पात्र को भूमि पर फेंकते हैं, न अति दूर, न अति समीप रखते हैं। न पात्र से बेपर्वाह होते हैं, न सदा उसकी रक्षा में ही तत्पर रहते हैं।

"भोजनोपरान्त वह थोड़ी देर चुपचाप बैठते हैं और भोजन सम्बन्धी अनुमोदन के काल को अतिक्रमण करते हैं। भोजनोपरान्त वह उस भोजन का अनुमोदन करते हैं, उसकी निन्दा नहीं करते। एक बार भोजन कर लेने के बाद और (अतिरिक्त) भोजन वह नहीं चाहते। भिक्षु-परिषद् को वह धार्मिक कथाएँ कहकर प्रसन्न, समुत्तेजित और संप्रहर्षित करते हैं। ऐसा कर आसन से उठकर चले जाते हैं।

"वह न अति शीघ्र चलते हैं, न अति शनैः चलते हैं, न छूटने की इच्छा से जैसे चलते हैं। गोतम के शरीर में वस्त्र न अत्यन्त ऊपर रहता है, न अत्यन्त नीचे, न काया में अत्यधिक सटा हुआ, न काया से अत्यधिक निकला हुआ। गोतम के शरीर से हवा वस्त्र को नहीं उड़ाती। गोतम के शरीर में धूल भी नहीं चिपटती।

"वह विहार के भीतर बिछे आसन पर बैठते हैं। बैठकर पैर धोते हैं, किन्तु पैर के मण्डन में तत्पर होकर नहीं विहरते। वह पैरों को धो कर, शरीर को सीधा रख, स्मृति को सामने रखकर बैठते हैं। वह न आत्म-पीड़ा के लिये सोचते हैं, न पर-पीड़ा के लिये सोचते हैं और न आत्म और पर, दोनों की ही पीड़ाओं के लिये सोचते हैं। गोतम आत्म-हित, पर-हित, अपने और पराये दोनों के हित, सारे लोक के हित, के लिए चिन्तन करते ही आसीन रहते हैं।"*

तथागत के बाहरी जीवन का यह छोटा-सा चित्र है। वे वास्तव में मानवता के आदर्शों के साकार रूप थे। जीवन की प्रत्येक छोटी-से-छोटी क्रिया में भी उनका कितना संयम, कितना सम, कितना संगीत!

---

* ब्रह्मायु-सुत्त (मज्झिम २।५।१) राहुल सांकृत्यायन का अनुवाद, कुछ परिवर्तनों के साथ।

निश्चय ही जैसा तथागत का कर्म-सौष्ठव वैसा ही उनका ज्ञान-सौन्दर्य ! जो कुछ उस अद्भुत पुरुष ने कहा सब सुन्दर, जो कुछ उसने किया सब सुन्दर !

लोकोत्तरा भगवतो चर्या लोकोत्तरं कुशलमूलं ।
गमनं स्थितं निषण्णं शयितं लोकोत्तरं मुनिनो ॥
यत्तत् सुगतशरीरं भवते भवस्य बन्धनक्षयकरणं ।
लोकोत्तरं तदपि भो इत्यत्र न संशयः कार्यो ॥
चीवरधरणं मुनिनो लोकोत्तरं अत्र संशयो नास्ति ।
आहाराहरणमथो लोकोत्तरमेव सुगतस्य ।
देशना नरनागानां सर्वलोकोत्तरा मता ॥*

---

* महावस्तु, पृष्ठ १६७–१६८ ।

: ४ :

धर्मसेनापति सारिपुत्र

धर्म-सेनापति सारिपुत्र गोतम बुद्ध के प्रमुख शिष्यों में से थे। एक प्रकार से कहना चाहिए कि वे भगवान् बुद्ध के सबसे प्रधान शिष्य (अग्गसावक) ही थे। 'धर्मसेनापति' या 'धम्मसेनापति' वे इस लिए कहे जाते हैं कि महा-विजयी (बुद्ध) ने जिस धर्म-साम्राज्य को स्थापित किया, उसके सेनानी होने का भार सारिपुत्र ने ही वहन किया। सम्यक् सम्बुद्ध ने जिस अनुत्तर धर्म-चक्र को प्रवर्तित किया, उसे अनु-प्रवर्तित करते हुए सारिपुत्र ही विहरते थे। इसलिए उनकी 'धर्म-सेनापति' संज्ञा सार्थक ही थी। बुद्ध यदि चक्रवर्ती हैं तो सारिपुत्र उनके सेनापति। बुद्ध-चक्रवर्ती के उदय होने पर जिन शील, समाधि आदि सात रत्नों का प्रादुर्भाव होता है,* उनकी रक्षा सारिपुत्र जैसे भगवान् (बुद्ध) के 'औरस (हृदय से उत्पन्न) पुत्र' ही करते हैं। जिन्होंने बुद्ध को देखा, उन्होंने साक्षात् धर्म को ही देखा और आज हम धर्म के द्वारा ही बुद्ध को देखते हैं—'यो धम्मं पस्सति सो भगवन्तं पस्सति'। वैष्णव अर्थों में भी यह बिलकुल ठीक ही है। धर्म को ही सत्य कहा जाता है, और सत्य भगवान् का विग्रह है। जो 'बुद्ध' है, वही भगवान् है, नारायण है।† 'बुद्धत्व' ब्रह्म का

---

* सात रत्नों के वर्णन के लिये देखिये चक्कवत्ति सुत्त, संयुत्तनिकाय; मिलिन्द-प्रश्न, पृष्ठ ४१६-१८ (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)।

† देखिये महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३०८, श्लोक १-२२ (चित्रशाला प्रेस, पूना का संस्करण)

स्वभाव है, क्योंकि वह स्वयंज्योति है। सभी 'बुद्ध' (ज्ञानी पुरुष) अपने ही प्रकाश से चमकते हैं, पराधीन-प्रकाशता उनमे नहीं होती। इसलिए हम कहते हैं कि धर्म, सत्य, परमेश्वर और 'बुद्ध' समानार्थ-वाची शब्द हैं। 'धर्म' के ही सेनापति सारिपुत्र थे।

पर स्वयं बुद्ध को तो इतना कहाँ कहना था! उनसे जब एक बार पूछा गया कि बुद्ध रूपी चक्रवर्ती का सेनापति कौन है तो भगवान् ने कहा, "मेरे द्वारा संचालित अद्वितीय अनुपम धर्म-चक्र को तथागत का अनुजात (पीछे उत्पन्न) सारिपुत्र ठीक से अनुचालित कर रहा है"।* हमें जानना चाहिये कि इसी अर्थ में बौद्ध सङ्घ सारिपुत्र को 'धर्म-सेनापति' कह कर पुकारता था। 'मिलिन्द-प्रश्न'-कार ने धर्म-नगर (धम्म नगर) का एक सुन्दर रूपक खींचा है।† 'धर्म-नगर' की रक्षा सारिपुत्र जैसे चतुर सेनापतियों ने ही की। पर जब वैसे क्षीणास्रव अर्हत् (सिद्ध पुरुष जिनके चित्त-मल नष्ट हो गये हैं) न रहे, तो 'धर्म-नगर' (बुद्ध-धर्म) भी न रह गया।

---

* शैल नामक ब्राह्मण ने भगवान् से पूछा था—"अनुपम धर्म-राजा सम्बुद्ध तुम अपने को कहते हो; हे गोतम! 'धर्म से चक्र चला रहा हूँ' यह भी तुम कहते हो; कौनसा आप शास्ता का शिष्य श्रेष्ठ सेनापति है जो इस आपके द्वारा चलाये धर्म-चक्र को फिर भी अनु-चालित कर रहा है? इसी के उत्तर मे भगवान् ने यह कहा था। देखिये सेलसुत्त (मज्झिमनिकाय २।५।२)। अंगुत्तर-निकाय में भी भग-वान् ने सारिपुत्र की प्रशंसा में कहा है "भिक्षुओ! सारिपुत्र को छोड़कर मैं किसी दूसरे को ऐसा नहीं पाता जो मेरे द्वारा चलाये गये धर्म-चक्र को फिर भी चलावे। भिक्षुओ! सारिपुत्र ही मेरे द्वारा प्रवर्तित धर्म-चक्र को ठीक से चला सकता है।"

† देखिए मिलिन्द-प्रश्न, पृष्ठ ४१६-२६ (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)

विनय ही शाक्य-मुनि के शासन की आयु थी। सारिपुत्र की जीवन-स्फूर्ति 'आर्य-विनय' (बुद्ध के द्वारा प्रयुक्त एक अत्यन्त सार्थक शब्द) का एक सुन्दर पाठ है।

आर्य-पद्धति में मनुष्य का वास्तविक जन्म तभी से माना जाता है जब से वह साधना में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार सारिपुत्र के जीवन की कहानी वास्तव में हमें उनके प्रव्रज्या-काल से ही आरम्भ करनी चाहिये; किन्तु इस महान् साधक की साधना 'अनेकजन्म-संसिद्ध' तप से पकी हुई और परिपूरित थी, इसलिए बालकपन से ही इसकी प्रवृत्ति प्रविविक्त-चिन्तन (एकान्त-चिन्तन) की ओर ही थी। "उपतिष्य मेरा नाम है, सारिपुत्र कहकर गुरु भाई (स-ब्रह्मचारी) मुझे पुकारते हैं।" इस प्रकार अपना विनम्र परिचय इस विनीत भिक्षु ने अपने एक समकालीन भिक्षु को दिया था।* अपने ही तेज से प्रकाशित मण्डल वाले, सूर्य के समान दिशा-विदिशाओं को ज्ञान-दीप्ति से भर देने वाले सम्यक् सम्बुद्ध के इस प्रधान शिष्य का जन्म एक छोटे-से गांव में हुआ था और वहीं से प्रायः इस देश की सर्व-विध प्रतिभा निःसृत हुई है। सारिपुत्र का जन्म मगध देश में राजगृह नगर के समीप उपतिष्य नामक ग्राम में (जिसको नालक ग्राम भी कहा जाता है) ब्राह्मण कुल में हुआ था। पुरातत्वविदों का अनुमान है कि यह स्थान वर्तमान सारीचक, बड़गाँव, नालन्दा के समीप, जिला पटना में है।† सारिपुत्र के पिता का नाम वंगन्त और माता का नाम रूपसारि था। सम्भवतः अपनी माता के नाम पर ही इनका नाम 'सारिपुत्र' पड़ा। सारिपुत्र के पिता वंगन्त अपने गांव के मुखिया थे और इनकी अतुल सम्पत्ति का वर्णन मिलता है। बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों में सारिपुत्र को ही शालिपुत्र, शारिसुत और

---

* देखिये रथविनीत-सुत्तन्त (मज्झिम. १।३।४)

† देखिये बुद्ध-चर्या, पृष्ठ ४८६

शारद्वती-पुत्र भी कहा गया है । 'अपदान' में इनको 'सारिसम्भव' कह कर पुकारा गया है।* इन सबसे मालूम होता है कि सारिपुत्र की माता का नाम सम्भवतः रूपसारि ही रहा होगा, पर माता रूपसारि स्वयं अपने विचार से एक सुखी माता नहीं थीं ।

सारिपुत्र चार भाई थे। सारिपुत्र सब में बड़े थे। अन्य तीन के नाम थे—चुन्द, उपसेन और रेवत। सारिपुत्र की तीन बहनें भी थीं, जिनके नाम थे, चाला, उपचाला और शिशूपचाला। भाई-बहनें सभी बडे विज्ञ और साधन-सम्पन्न थे। उस समय विचार-शील स्त्री-पुरुषों के लिए तथागत के व्यक्तित्व का बहुत बड़ा प्रभाव था। हम जानते हैं कि वह प्रभाव समाप्त तो कभी नहीं हुआ और जब तक जीवन में मृत्यु, जन्म, जरा, रोग, भय, शोक-सन्ताप हैं वह समाप्त भी कैसे हो सकता है ? अतः काले केश रहते ही, अत्यन्त अल्प वयस् में ही, इन सब भाई-बहनों ने संस्कारों की अनित्यता को देख लिया। देख लिया कि ये सब उदय (उत्पत्ति) और व्यय (विनाश) वाले हैं। फिर उनमें मन कैसे लगे ! सभी ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। वे सभी बुद्ध की शरण भी गये, धर्म की शरण भी गये और गये संघ की शरण भी। यहीं माता रूपसारि के कष्ट की सीमा थी। सात अर्हतों की माता होने के उसके गौरव को तो आज हम याद करते हैं और साधकों का जगत् सदा याद करेगा, पर स्वयं माता रूपसारि के हृदय में क्या आग धधकती थी, इसका भी कुछ निर्देश हमें पालि-ग्रन्थों से मिल जाता है। माता रूपसारि का बौद्ध संघ में बिल्कुल भी विश्वास नहीं था। उल्टे वह उसे निरन्तर कोसती थीं। एक बार जब सारिपुत्र भिक्षु की अवस्था में अन्य भिक्षुओं के साथ, जिनमें राहुल भी थे, अपने गाँव गये, तो उनकी

---

* 'अपदान', जिल्द दूसरी, पृष्ठ ४८० (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

माता ने उन सब भिक्षुओं को और बौद्ध संघ को भी खूब फटकारा था*। स्वयं अपने बेटे सारिपुत्र की बातें तो माता रूपसारि को बिल्कुल ही नहीं सुहाती थीं। अत्यन्त निकट सम्बन्धी होते हुए भी क्या जगत् ने साधकों को कभी पहचाना? जिस सारिपुत्र के गम्भीर धर्मोपदेश को बुद्ध तथागत अपने उपदेश के समान ही गम्भीर मानते थे, उसी को सुनने में उनकी माता को अतिशय घृणा होती थी! पर वैसे माता रूपसारि बड़ी सरल-हृदया थीं और आगे चलकर तो हम देखेंगे कि वे भी अपने पुत्र के प्रभाव से बुद्ध की शरण गईं, धर्म की शरण गईं और संघ की शरण भी गईं। किन्तु यह सब तबतक नहीं हुआ जबतक कि माता रूपसारि को अपने पुत्र से वियोग का अन्तिम क्षण ही नहीं आगया।

सारिपुत्र बचपन से ही एकान्त-चिन्तनशील थे। नालक गाँव के पास एक दूसरा गाँव था जिसका नाम था कोलित ग्राम। इस गाँव का एक छोटा बालक सारिपुत्र का बड़ा घनिष्ठ मित्र था। इसका नाम था महामौद्गल्यायन। कहा जाता है कि सारिपुत्र और महा-मौद्गल्यायन के कुटुम्बों में सात पीढ़ियों से बड़ी घनिष्ठता चली आ रही थी। इसलिए दोनों बालकों में घनिष्ठता होनी स्वाभाविक ही थी। मौद्गल्यायन आगे चलकर गोतम बुद्ध के दूसरे प्रधान शिष्य हुए। सारिपुत्र और मौद्गल्यायन का बहुत दिन तक साथ रहा। यह भी कहा जाता है कि सारिपुत्र और मौद्गल्यायन एक ही दिन पैदा हुए थे। कुछ भी हो, इन 'कल्याणमित्र' युगल भिक्षुओं का व्यक्तित्व बुद्ध की शिष्य-मण्डली में निश्चय ही अत्यन्त प्रभावशाली था और इनकी साधना भी एक ही दिशा में चली थी। इन दोनों भिक्षुओं के वर्णन भी प्रायः साथ-ही-साथ मिलते हैं। यहां इस बात का हमें

---

* देखिये धम्मपद-अट्ठकथा, जिल्द चौथी, पृष्ठ १६८ (पालि-टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

बड़े ध्यान से स्मरण रखना चाहिए कि सारिपुत्र और मौद्गल्यायन दोनों ही अवस्था में भगवान् गोतम बुद्ध से बड़े थे, क्योंकि जहां इनके जन्म का वर्णन आया है वहाँ कहा गया है कि ये दोनों ही गोतम बुद्ध के जन्म से पहले (अनुपपन्ने येव हि बुद्धे)* पैदा हुए थे। इस बात को याद रखकर जब हम इन दोनों भिक्षुओं की भगवान् बुद्ध के प्रति श्रद्धा को देखते हैं, उनके पारस्परिक सम्भाषणों को सुनते हैं और बुद्ध जिस प्रकार उन्हें सम्बोधन आदि करते हैं उसे देखते हैं तो एक विशेष आनन्द की स्मृति उमड़ पड़ती है।

एक बार की बात है कि सारिपुत्र और मौद्गल्यायन दोनों अपने गाँव के पास ही एक जगह मूक अभिनय (गिरग्गसमज्जा) देखने गये। वे दोनों अभी बालक ही थे; किन्तु उस खेल को देखकर उन्हें संस्कारों के खेल की झलक मिली, चित्त में उदासीनता आई। सोच-विचार किया। दोनों ही घर छोड़, प्रव्रजित हो गये। उस समय इस देश में अनेक परिव्राजक अपने सैकड़ों और सहस्रों शिष्यों के साथ आश्रमों में रहा करते थे। ऐसे ही एक परिव्राजक के पास जिसका नाम संजय था, सारिपुत्र और मौद्गल्यायन भी रहने लगे। बहुत तीव्र भावना की, पर शान्ति न मिली। अन्त मे उन्होंने वह आश्रम छोड़ दिया। दोनों एक-दूसरे को यह वचन देकर कि जिसको ज्ञान की प्राप्ति पहले हो वही दूसरे के पास जाकर उसे कहे, एक दूसरे से अलग हो गये। सारिपुत्र किंकुशलगवेषी (कौनसा मार्ग कुशल है, इसकी गवेषणा करने वाले) होकर सारे भारतवर्ष (जम्बुद्वीप) में इधर-उधर घूमने लगे।

कई वर्ष खाक छानते-छानते बीत गये, पर हृदय को शान्ति नहीं मिली। न जाने कितने आश्रमों को देखा, कितने परिव्राजकों से समागम किया, कितनी बार तीनों विद्याओं (तीन वेदों) का श्रवण, मनन और निदिध्यासन किया, किन्तु हृदय की जलन नहीं मिटी। राजगृह की उन्हीं

---

* धम्मपद-अट्ठकथा, जिल्द पहली, पृष्ठ ७३

पुरानी गलियों में निरुद्देश्य से जड़वत् होकर सारिपुत्र घूम रहे हैं। सहसा उनके मलिन चेहरे पर एक बिजली की रेखा-सी दौड़ जाती है। सारिपुत्र ने कुछ विशेष बात देखी है। वह कुछ देर ठहर कर विचार-मग्न हो जाते हैं। उनके बहुत समीप ही काषायवस्त्र पहने हुए एक भिक्षु खड़ा है। वस्त्रों से अच्छी प्रकार आच्छादित है, इन्द्रिय-संयम से उसे पूरी तरह ढँका हुआ ही मालूम पड़ता है। नजर नीचे को है, अंगों का उचित समेटन और फैलाव गम्भीर आध्यात्मिक संस्कृति को प्रकट करता है। उसकी चितवन, आलोकन और विलोकन सभी एक विशेष प्रकार के हैं। इसी व्यक्ति ने सारिपुत्र के मन पर जादू डाला है। यह एक बौद्ध भिक्षु है, जो राजगृह में भिक्षा के लिए प्रविष्ट हुआ है। सारिपुत्र कुछ ठहरते हैं। फिर जब उसे अपने कार्य से निवृत्त देखते हैं तो पास जाकर पूछते हैं :

"आवुस ! तुम्हारी इन्द्रियाँ प्रसन्न हैं। तुम्हारी कान्ति शुद्ध, वर्ण उज्ज्वल है। आवुस ! तुम किसको गुरु मानकर साधु हुए हो ? तुम्हारा शास्ता कौन है ? तुम किसके मार्ग को मानते हो ?"

"आवुस ! शाक्यकुल से प्रव्रजित शाक्य-पुत्र जो महा श्रमण हैं, उन्हीं भगवान् को गुरु मान कर मैं साधु हुआ हूँ। वही मेरे शास्ता हैं। मैं उन्हीं के मार्ग को मानता हूँ।"

"आयुष्मान् के गुरु का क्या मत है ?"

"आवुस ! इस धर्म में मैं अभी नया ही प्रव्रजित हुआ हूँ। इसलिए विस्तार से तो मैं तुम्हें बता नहीं सकता। हाँ, संक्षेप में मैं तुम्हें धर्म कहता हूँ।"

"अच्छा आवुस ! थोड़ा बहुत जो कुछ भी जानते हो कृपा करके मुझसे कहो। सार ही को मुझे बतला दो। क्या करोगे बहुत-सा विस्तार कह कर ?"

"सुनो आवुस ! हेतु से उत्पन्न होने वाली जितनी वस्तुएं हैं, तथागत उनका हेतु बतलाते हैं, और उनका जो निरोध है उसे भी वे बतलाते

हैं। यही महाश्रमण का मत है।"*

जिस भिक्षु से सारिपुत्र की ये बातें हो रही थीं उनका नाम था अश्व-जित् (अस्सजि)। सारिपुत्र ने उनके उपर्युक्त शब्दों को सुनकर ही अपने को धन्य माना। उनको ऐसा लगने लगा मानो वह निर्वाण-गामी मार्ग की धारा में ही पड गये हैं। इसी को बौद्ध साहित्य में कहा जाता है कि वह स्रोत-आपन्न हो गये। झटपट वह अपने मित्र मौद्गल्यायन के पास गये। मौद्गल्यायन ने भी अपने मित्र को दूर से ही देखकर कहा—

"आवुस! तेरी इन्द्रियाँ प्रसन्न हैं, तेरी कान्ति शुद्ध और वर्ण उज्ज्वल है। आवुस! तूने अमृत तो नहीं पा लिया?"

"हाँ आवुस! अमृत पा लिया।"

"आवुस! तूने कैसे अमृत पाया?"

सारिपुत्र ने सब कथा कह सुनाई। मौद्गल्यायन भी उसी समय स्रोतआपन्न हो गये। मौद्गल्यायन ने प्रस्ताव रक्खा कि शास्ता के पास चला जाय; पर सारिपुत्र अपने पूर्व गुरु सञ्जय परिव्राजक के बड़े कृतज्ञ थे। उन्होंने सोचा कि इस महान् सौभाग्य में अपने गुरु को भी साझीदार क्यों न बनाया जाय? सारिपुत्र और मौद्गल्यायन सञ्जय परिव्राजक के पास गये। प्रार्थना की कि भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध के दर्शनों के लिए चलें। सञ्जय को महन्ताई का लोभ खींचता था। वह बुद्ध के पास चलने को तैयार नहीं हुआ। उल्टे सारिपुत्र को मठ की महन्ताई का लोभ देकर रोकने की उसने चेष्टा की; पर जो चालीस कोटि की सम्पत्ति और ५०० सोने की पालकियों को त्याग चुका था (सारिपुत्र की इतनी सम्पत्ति का वर्णन मिलता है) वह एक आश्रम की महन्ताई से रुकने वाला नहीं था। सञ्जय परिव्राजक के २५० † शिष्यों को

---

* ये धम्मा हेतुप्पभवा हेतुं तेस तथागतो आह। तेसं च निरोधो। एववादी महासमणो।

† पालि डिक्शनरी ऑव प्रॉपर नेम्स (जिल्द दूसरी में 'सारिपुत्त'

लेकर सारिपुत्र और मौद्गल्यायन शास्ता के दर्शनों के लिए राजगृह के समीप वेणुवन को चल दिये।

भगवान् ने दूर से ही सारिपुत्र और मौद्गल्यायन को आते देखा और भिक्षुओं को सम्बोधित किया :

"भिक्षुओ! ये दो मित्र कोलित (मौद्गल्यायन) और उपतिष्य (सारिपुत्र) आरहे हैं। ये मेरे दो प्रधान शिष्य होंगे।"

सारिपुत्र और मौद्गल्यायन ने भी भगवान् के चरणों में सिर झुका कर प्रणाम किया और प्रार्थना की :

"भन्ते! भगवान् हमें प्रव्रज्या दें, भगवान् हमें उपसम्पदा दें।"

"आओ भिक्षुओ! यह धर्म सु-आख्यात है। अच्छी तरह दुःख का क्षय करने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करो।" यही उन आयुष्मानों की उपसम्पदा हुई।

उप-सम्पदा के सात दिन के बाद ही मौद्गल्यायन अर्हत्त्व-फल में प्रतिष्ठित हो गये, अर्थात् उनके चित्त-मल सर्वथा नष्ट हो गये। सारिपुत्र को अर्हत् होने मे अभी दो सप्ताह और लगे। राजगृह में गृध्रकूट पर्वत पर शूकरखाता नामक स्थान पर जब भगवान् ने दीर्घनख नामक परिव्राजक को 'वेदना परिग्रह' नामक सूत्र का उपदेश दिया तो उसे सुन कर सारिपुत्र को अर्हत्त्व-फल की प्राप्ति हुई। उन्होंने अनुभव किया कि अब चित्त-मल उनके अन्दर बिलकुल नहीं रहे।

सारिपुत्र के स्वभाव की दो सबसे बडी विशेषताएँ थीं, उनकी विनम्रता और कृतज्ञता-बुद्धि। सारिपुत्र अतिशय विनयी और कृतज्ञ पुरुष थे। यद्यपि बौद्ध सङ्घ के वह प्रधानतम भिक्षु माने जाते थे, फिर भी उनका जीवन साधारण-से-साधारण भिक्षु के समान

शीर्षक के नीचे) यह संख्या ५०० लिखी है। यह विनय-पिटक के वर्णन के अनुसार नहीं है। देखिए विनय-पिटक, पृष्ठ ८६ (राहुल सांकृत्यायन का अनुवाद)

ही था। आमिषदायाद (धनादि भोगों का उत्तराधिकारी) होने की भावना प्रारम्भिक बौद्ध सङ्घ में बिलकुल नहीं थी। इसलिए रूखा-सूखा भोजन, रूखे-सूखे कपड़े, जैसा-तैसा निवास-स्थान और बीमार हो जाने पर गोमूत्र में श्रुधी हुई हर्र, यही जीवनोपयोगी सामग्री जैसे अन्य भिक्षुओं को होती थी, वैसे ही वह 'धर्मसेनापति' की भी थी; बल्कि सारिपुत्र की साधना तो इनके भी व्यवहार में बड़ी परिमित थी। अवधूत-व्रतों का वह पूर्णतः पालन करते थे और दूसरे भिक्षुओं को उनका उपदेश भी करते थे। एक बार की बात है कि भिक्षु-संघ के साथ भगवान् श्रावस्ती गये हुए थे। वहां जाने पर जो कुछ निवास-स्थान मिले, भिक्षुओं ने एक-एक कर उन सबको झपट लिया। बेचारे सारिपुत्र को सोने के लिए कोई जगह ही नहीं मिल सकी। यदि चाहते तो इन्तजाम करवा सकते थे, परन्तु वह रात उन्होंने विहार के बाहर एक पेड़ के नीचे ही बिताई। रात के पिछले पहर में भगवान् खाँसे। सारिपुत्र का भी खाँसना उन्हें सुनाई दिया।

उन्होंने पूछा, "यहाँ कौन है?"

"भन्ते! मैं सारिपुत्र हूँ।"

"सारिपुत्र, तू यहां क्यों बैठा है?"

सारिपुत्र ने सब बात कह सुनाई।* भगवान् ने भिक्षुओं को बहुत फटकारा। तथागत का सेनापति बिना बिस्तर के भी सो जाता था!

सारिपुत्र का 'धर्मसेनापतित्व' पूर्णतः सेवा और आध्यात्मिक अनुभूति मे था, शुष्क ज्ञान या अन्य किसी भौतिक तत्व में उसकी बुनियादें कभी नहीं थीं। कई बार हमको ऐसे वर्णन मिलते हैं कि जब सब भिक्षु भिक्षा के लिए निकल जाते थे तो सारिपुत्र स्वयं विहार के चारों ओर चक्कर लगाकर बिना झड़े हुए स्थानों को स्वयं झाड़ते थे, खाली

---

* देखिए, विनय—पिटक, चुल्लवग्ग, पृष्ठ ४६३ (राहुल सांकृत्यायन का अनुवाद)

पात्रों में जल भर देते थे और सोने बैठने के आसनों को ठीक कर देते थे। इस प्रकार विहार की सफाई आदि करते हुए हम अनेक बार सारिपुत्र को देखते हैं। बीमारों को देखने और उनकी सेवा करने की सारिपुत्र को बड़ी लगन रहती थी, जैसी कि उनके शास्ता बुद्ध और आनन्द आदि सब्रह्मचारियों को भी थी। समितिगुप्त नामक एक कुष्ठ-पीड़ित रोगी की सारिपुत्र ने बड़ी सेवा की थी और उसे अर्हत् पद की प्राप्ति करने में भी बड़ी सहायता की थी। सारिपुत्र की कृतज्ञता की भावना तो बड़ी ही गम्भीर थी और वह उनके स्वभाव की तह तक ही हमें ले जाती है। संजय परिव्राजक के प्रति तो उनकी कृतज्ञता हम देख ही चुके हैं। एक बार एक ब्राह्मण से उन्होंने एक कलछी-भर भात पाया था। उसी की कृतज्ञता से उन्होंने अपने शास्ता बुद्ध को उस ब्राह्मण को उप-सम्पादित (भिक्षु बनाने का संस्कार) करने के लिए प्रेरित किया।* पर उनकी कृतज्ञता की सबसे बड़ी झलक तो हमें उनकी स्थविर अश्वजित् (जिनसे उन्हें प्रथम बार बुद्ध के विषय में परिचय मिला था) के प्रति लोकोत्तर निष्ठा और श्रद्धा से मिलती है। जब सारिपुत्र 'धर्म-सेनापति' भी बन गए और सारा भिक्षु-संघ उनको प्रज्ञा और अन्तर्दर्शन में बुद्ध से दूसरे नम्बर पर मानने लगा, उस समय भी, बल्कि कहना चाहिए जबतक सारिपुत्र ने शरीर नहीं छोड़ा, ठीक उस समय तक, प्रतिदिन सन्ध्या समय जिस दिशा में जानते थे कि स्थविर अश्वजित् हैं, उस को प्रणाम करते थे और उसी की ओर सिर करके सोते थे! अपने शास्ता सम्यक् सम्बुद्ध के प्रति उनकी जो अगाध निष्ठा और श्रद्धा थी, उसके कुछ चित्र हम आगे देखेंगे।

भिक्षु-नियमों का पालन सारिपुत्र बड़ी कड़ाई के साथ करते थे। एक बार जब वह बीमार पड़े तो उनसे कहा गया कि कुछ लहसुन लेने

---

* देखिए विनय-पिटक, महावग्ग, पृष्ठ १०५ (राहुल सांकृत्यायन का अनुवाद)

से उनकी व्याधि शान्त हो सकती है, किन्तु लहसुन खाना भिक्षुओं को निषिद्ध था। इसलिए सारिपुत्र ने उसे लेने से इन्कार कर दिया। बाद में शास्ता की आज्ञा से वह उन्हें दवा के रूप में लेना पड़ा। एक दूसरी बार जब सारिपुत्र बीमार हुए तो मौद्गल्यायन ने उनसे पूछा कि कौनसी दवा चाहिये। सारिपुत्र ने बतलादी। उनके कहने पर वह दवा लाई गई; किन्तु सारिपुत्र को इतने ही में यह विचार हो आया, "अरे, मैंने माँगकर दवा ली है। यह बुरी बात है। इससे मेरी जीविका बुरी हो जायगी।" उन्होंने वह दवा नहीं खाई। मौद्गल्यायन से कहने लगे, "यदि मुंह से माँग कर मैं कुछ मीठी खीर खालूं तो उससे मेरी जीविका निन्दित समझी जायगी। यदि मेरी अंतड़ियां भूख से बाहर निकल कर आजाएँ तब भी मैं अपनी जीविका को नहीं तोड़ सकता, प्राण भले ही निकल जाएँ।"* ऐसे ही भिक्षुओं पर गोतम बुद्ध ने अपने अनुत्तर धर्म की नींव रक्खी थी। "गीला या सूखा कुछ भी खूब कसकर नहीं खा लेना चाहिए। खाली पेट या थोड़ा ही खाकर रहने वाला बन, भिक्षु प्रव्रजित होवे। चार या पाँच कौर खाने के बाद यदि कुछ न मिले तो पानी पीले। आत्म-संयत भिक्षु के लिए यही काफी है।"† इसी आदर्श को लेकर सारिपुत्र जीवन बिताते थे। उनका कहना था, "न मुझे मरने की चाह है, न जीने की। ज्ञान-पूर्वक सावधान हो मैं अपने समय की प्रतीक्षा कर रहा हूं।"‡ ऐसे व्यक्ति को किस पदार्थ में रस आ

---

* मिलिन्द-प्रश्न, पृष्ठ ४५५ में उद्धृत। यहां यह कथा संक्षेप में दी गई है; विस्तार से वर्णन के लिए देखिए 'विसुद्धिमग्ग' १।११७-१२१ (आचार्य धम्मानन्द कोसम्बी का संस्करण)

† मिलिन्द-प्रश्न, पृष्ठ ४६८ (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)

‡ सारिपुत्र का वचन, मिलिन्द-प्रश्न, पृष्ठ ५५ में उद्धृत (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)

सकता था और जब रस ही नहीं था तो वेदना भी कहाँ से उत्पन्न होती ? सारिपुत्र को पहले पिट्ठी भरी कड़ी रोटी (पिट्ठखज्जक) खाना बहुत पसन्द था, किन्तु अस्वाद व्रत को बढ़ाने की दृष्टि से उन्होंने उनका खाना बिल्कुल छोड़ दिया। साधकों की समस्याएं सब युगों में प्रायः समान ही होती हैं। सारिपुत्र बौद्ध साधना के उस युग के अग्रणी व्यक्ति थे,जब न भिक्षु-नियम थे और न भिक्षुणी-नियम और जब शास्ता अपने सम्पूर्ण सङ्घ के विषय में यह कह सकते थे, "इन पाँचसौ भिक्षुओं में से जो पिछड़ा हुआ भी भिक्षु है, वह भी स्रोत-आपन्न-फल को तो प्राप्त है ही, दुर्गति से रहित तो हैं ही, स्थिर सम्बोधि-परायण तो है ही।"

भगवान् बुद्ध सारिपुत्र के बड़े प्रशंसक थे। भिक्षुओं की भरी सभा में उन्होंने सारिपुत्र को महा-प्रज्ञों में अग्रणी उद्घोषित किया (एतदग्गं महापञ्ञाणं)। प्रज्ञा में बुद्ध सारिपुत्र को केवल अपने से ही नीचा समझते थे। बुद्ध जब त्रायस्त्रिंशलोक से अपनी माता को अभिधर्म का उपदेश देकर संकाश्य नगर* में आए तो अभिधर्म के विषय में विशेष ज्ञान उन्होंने सारिपुत्र को ही दिया। बुद्ध के द्वारा पूछे हुए प्रश्नों के उत्तर सारिपुत्र के सिवा और कोई भिक्षु नहीं दे सका। हाँ, कुछ प्रश्न सारिपुत्र की भी ज्ञान-शक्ति के परे थे और उन्हें केवल सम्यक् सम्बुद्ध ही जानते थे। पर-चित्त ज्ञान सारिपुत्र की प्रज्ञा से ऊपर की चीज़ थी और अधिकारी की योग्यता के अनुसार योग-साधन (कर्म-स्थान) का विधान करने में भी वे उतने कुशल नहीं थे। यह काम एक पूर्ण ज्ञानी-पुरुष (सम्यक् सम्बुद्ध) ही कर सकता था। सारिपुत्र ने चूंकि प्रारम्भ से ही बौद्ध सङ्घ में अग्रणी स्थान प्राप्त कर लिया था, इसलिए कुछ भिक्षु इससे खिन्न भी होते थे, किन्तु उन्हें समझाने के लिए भगवान् बुद्ध अनेक बार सारिपुत्र की पूर्व-जन्मों की साधनाओं पर ज़ोर देते रहते

---

* वर्तमान संकिसा-बसन्तपुर (जिला फर्रुखाबाद), देखिये बुद्धचर्या, पृष्ठ १४४ पदसंकेत २

थे। भगवान् बुद्ध का यह दृढ़ विश्वास था कि सारिपुत्र एक 'अनेक-जन्मसंसिद्ध' पुरुष थे। अनोमदर्शी बुद्ध (एक पूर्व बुद्ध) के समय से ही सारिपुत्र ने अनेक जन्मों मे महान् त्याग किये थे और अनेक प्रकार की पारमिताएँ प्राप्त की थीं। कम-से-कम ६० जातक-कथाओं में सारिपुत्र की इन पूर्व-जन्मों में की हुई साधनाओं के वर्णन मिलते हैं। कभी सारिपुत्र वानर हुए थे, कभी सर्प और कभी ब्राह्मण-कुमार और इन सभी अवस्थाओं में उन्होंने प्राणी-मात्र की सेवा की थी। भदन्त आनन्द कौसल्यायन के 'जातक' हिन्दी–अनुवाद में ये कहानियां जहां-तहां अनुसन्धेय हैं।* उन सब के अन्त में किसी-न-किसी प्रकार इस शैली के वाक्य आते हैं—"बुद्ध ने यह धर्म-देशना कह जातक का सारांश निकाल दिया। उस समय का प्रधान शिष्य अब का सारिपुत्र ही है, लेकिन महाब्रह्मा मैं ही था।"† आदि। ये सब कथाएं इस तथ्य को दिखाती हैं कि सारिपुत्र की पूर्व-साधना की भिक्षु-संघ में कितनी प्रतिष्ठा थी।

सारिपुत्र को भगवान् बुद्ध भिक्षु-धर्म का परम आदर्श मानते थे। एक बार तो भगवान् ने इतना तक कह दिया,"भिक्षुओ! यदि किसी के विषय में यह ठीक से कहा जा सकता है कि 'इसे आर्य-शील में स्वामित्व प्राप्त है, पारमिता प्राप्त है, आर्य समाधि में स्वामित्व प्राप्त है, आर्य-प्रज्ञा मे स्वामित्व प्राप्त है, आर्य-विमुक्ति में स्वामित्व प्राप्त है, परि-पूर्णता प्राप्त है,' तो केवल सारिपुत्र के विषय मे ही।"‡ इतना ही नहीं, "भिक्षुओ! यदि किसी के विषय में यह ठीक से कहा जा सकता है कि 'यह मुख से उत्पन्न, धर्म से उत्पन्न, धर्म-निर्मित, धर्म-दायाद (धर्म का

---

* वैसे एक साथ इन सबकी सूची 'पालि डिक्शनरी ऑफ प्रापर नेम्स' मे 'सारिपुत्त' शीर्षक के नीचे भी देखी जा सकती है।

† भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद।

‡ अनुपद सुत्तन्त (मज्झिम. ३।२।१),

—

यारिम) न-आमिप-दायाद (धनादि भोगों का उत्तराधिकारी नहीं) औरस (हृदय से उत्पन्न) पुत्र हैं, तो केवल सारिपुत्र के लिए ही ठीक है।' भिक्षुओ ! तथागत के द्वारा चलाए अद्वितीय धर्म-चक्र को सारिपुत्र ठीक से अनु-प्रवर्तित कर रहा है।" इससे अधिक प्रशंसा किसी भिक्षु की तथागत के द्वारा नहीं हो सकती थी। हम अनेक बार भगवान् बुद्ध को यह कहते सुनते हैं, "सारिपुत्र ! तेरी इन्द्रियाँ प्रसन्न हैं, तेरा छवि-वर्ण पर्यवदात है। सारिपुत्र ! आजकल तू किस विहार से अधिकतर विहर रहा है ?" और सारिपुत्र "भन्ते ! मैं आजकल शून्यता-विहार से विहरता हूँ" ऐसा या अन्य कुछ उत्तर दे देते हैं। ये सब बातें दिखलाती हैं कि भगवान् बुद्ध सारिपुत्र की साधना का कितना अधिक मान करते थे। 'सच्चविभङ्गसुत्त' (मज्झिम ३।४।११) में भगवान् कहते हैं, "भिक्षुओ ! सारिपुत्र और मौद्‌गल्यायन की सेवा करो, उनके पास जाओ। भिक्षुओ ! सारिपुत्र और मौद्‌गल्यायन पण्डित हैं, सब्रह्मचारियों के अनुग्राहक हैं। भिक्षुओ ! सारिपुत्र और मौद्‌गल्यायन आर्य-सत्यों का विस्तार-पूर्वक व्याख्यान कर सकते हैं, प्रकाशन कर सकते हैं। भिक्षुओ ! जन्मदाता की तरह सारिपुत्र है। जन्मे को पोसने वाले की तरह मौद्गल्यायन।" 'महागोसिंगसुत्त' (मज्झिम १।४।२) में भगवान् ने सारिपुत्र के चित्तसंयम की प्रशंसा की है और 'अनुपद सुत्तन्त' (मज्झिम ३।२।१) तो पूरा-का-पूरा ही सारिपुत्र की समाधि और प्रज्ञा आदि की प्रशंसा में है।

भगवान् बुद्ध ने उरुवेला की भूमि में छः वर्ष कड़ी तपस्या की थी। इसलिए बाद में उनकी पीठ में वात-रोग उत्पन्न हो गया था। इससे वे लगातार सीधे नहीं बैठ सकते थे। उपदेश देते समय हम अक्सर उन्हें ऐसा कहते हुए देखते हैं, "सारिपुत्र ! इस समय भिक्षु आलस्य-प्रमादरहित हैं। सारिपुत्र, तू भिक्षुओं को धार्मिक कथा कह। मेरी पीठ में दर्द है। मैं लेटूँगा।"* सारिपुत्र ! भगवान् के उपदेश की

* देखिए विनय-पिटक, चुल्लवग्ग, पृष्ठ ३६०

व्याख्या करने लग जाते हैं, जिसके अन्त में कारुणिक शास्ता को बरबस यही कहना पड़ता है, "साधु सारिपुत्र ! साधु सारिपुत्र !" सारिपुत्र के द्वारा उपदिष्ट दो अद्वितीय सुत्त दीघनिकाय के 'संगीति-परियाय-सुत' और 'दसुत्तर सुत्त' हैं जो बुद्ध-मन्तव्यों की बड़ी अच्छी सूची उपस्थित करते हैं। 'सङ्गीति-परियाय-सुत्त" के अन्त में भी भगवान् ने यही कहा. "साधु सारिपुत्र! साधु सारिपुत्र ! तूने अच्छा भिक्षुओं को एकता के ढंग का उपदेश (सङ्गीति-परियाय) दिया।" उपयुक्त दो सुत्तों के अतिरिक्त 'मज्झिम निकाय' के अनङ्गणसुत्तन्त (१।१।५) सम्मादिट्ठि सुत्तन्त (१।१।६) और गुलिस्सानि-सुत्तन्त (२।२।६) में भी सारिपुत्र के उपदेश सन्निहित हैं। मज्झिम-निकाय के ही 'सेवितव्व-न-सेवितव्व' सुत्तन्त में भगवान् के द्वारा उपदिष्ट सेवनीय और अ-सेवनीय पदार्थों की सारिपुत्र ने व्याख्या की है। ऐसे भी अनेक स्थल हैं जहाँ भगवान प्रश्न करते हैं और सारिपुत्र उनका उत्तर देते हैं। इनकी शैली प्रायः इस प्रकार की होती है, "सारिपुत्र ! स्रोत-आपत्ति-अङ्ग, स्रोत-आपत्ति-अङ्ग कहा जाता है । सारिपुत्र ! स्रोत-आपत्ति-अङ्ग क्या है ?" और बाद में "साधु सारिपुत्र ! साधु सारिपुत्र !" आदि।* सारिपुत्र की उपदेश-कुशलता का वर्णन तथागत ने उस समय भी किया था जब सारिपुत्र ने भगवान् के उपस्थाक (शरीर-सेवक)- पद के लिए अपने को समर्पित करते हुए कहा था, "भन्ते ! मैंने तुम्हारी चाह से सौ हज़ार कल्पों से भी अधिक समय तक असंख्य पारमिताएँ पूरी कीं। मेरे ऐसा महाप्राज्ञ सेवक उपस्थित है। मैं सेवा करूँगा।" इसका उत्तर भगवान् ने यही कह कर दिया था, "नहीं सारिपुत्र ! जिस दिशा में तू विहरता है, वह दिशा मुझसे अशून्य होती है। तेरा धर्म-उपदेश बुद्धों के धर्म-उपदेश के समान ही गम्भीर होता है।"† यह कहकर भगवान्

* सारिपुत्त सुत्त, संयुत्त निकाय।

† बुद्धचर्या, पृष्ठ २३६

ने सारिपुत्र जैसे महाज्ञानी की सेवा अपने लिए स्वीकार नहीं की थी। निश्चय ही सारिपुत्र के लिये भगवान् के हृदय में बड़ा आदर-भाव था। सारिपुत्र के व्यक्तित्व और उनके उपदेश की प्रभावशीलता का ही यह परिणाम था कि कौशाम्बी के कलह-प्रिय भिक्षुओं का निपटारा करने के लिए,* अश्वजित् और पुनर्वसु जैसे पापेच्छ भिक्षुओ के प्रव्राजनीय कर्म (संघ से बाहर निकाल देने का दण्ड) करने के लिए† तथा देवदत्त के द्वारा फोटे हुए भिक्षुओं को पुनः बौद्ध सङ्घ में प्रविष्ट कराने के लिए‡, शास्ता ने विशेषतः सारिपुत्र को ही नियुक्त किया। ये सब कथाएँ त्रिपिटक में यथास्थल देखी जा सकती हैं। भगवान् बुद्ध के द्वारा सारिपुत्र को महत्त्वपूर्ण विषयों पर दिये गए उपदेश विशेषतया अंगुत्तर-निकाय में अनुसन्धेय हैं। स्वयं सारिपुत्र के वचनों का एक अच्छा संग्रह 'मिलिन्द-प्रश्न' में मिलता है।

भगवान् बुद्ध सारिपुत्र के केवल प्रशंसक ही न थे, वह उन पर शासन भी करने वाले थे। एक बार कुछ नये प्रविष्ट भिक्षु, जो सारिपुत्र की अध्यक्षता मे थे, शोर मचा रहे थे। शास्ता को वह बिल्कुल पसन्द नहीं था। उन्होंने उन्हे बाहर निकल जाने को कहा। सारिपुत्र इसे न समझ सके और वे भी बाहर चले गए। बाद में शास्ता ने उन्हें बुलवा लिया और जब उन्होंने सारिपुत्र से पूछा कि यह सब उन्हें कैसा लगा तो सारिपुत्र ने कहा, " भन्ते ! मुझे ऐसा लगा कि भगवान् भिक्षु संघ को निकाल कर अब निश्चिन्त हो जीवन में सुखपूर्वक विहार करेंगे और हम भी अब दृष्ट-धर्म सुख से युक्त हो विहरेंगे।" शास्ता ने प्रेम-विवश वाणी से कहा, "ठहर सारिपुत्र ! ठहर सारिपुत्र ! फिर ऐसा विचार मन में न लाना।" मौद्गल्यायन से भी जब ऐसा ही पूछा तो उन्होंने

* देखिए, विनय-पिटक, महावग्ग, पृष्ठ ३३४-३५

† देखिए, विनय-पिटक, चुल्लवग्ग, पृष्ठ ३५१-५२

‡ देखिए, विनय-पिटक, चुल्लवग्ग, पृष्ठ ४८३-९०

कहा, 'भन्ते ! मुझे ऐसा लगा था कि भगवान् ने भिक्षु-संघ को निकाल दिया। अब आयुष्मान् सारिपुत्र और मैं ही संघ को धारण करेंगे।" शास्ता ने मौद्गल्यायन के उत्तर का अनुमोदन करते हुए कहा, "साधु मौद्गल्यायन ! साधु मौद्गल्यायन ! चाहे भिक्षु-संघ को मैं धारण करूं, चाहे सारिपुत्र और मौद्गल्यायन, एक ही बात है"। यहां तथागत के तात्पर्य को सारिपुत्र की अपेक्षा मौद्गल्यायन ही अधिक ठीक तरह जान सके। एक दूसरी बार शास्ता ने सारिपुत्र को झिड़का जब उन्होंने राहुल को, जो उनकी देख-रेख में छोड़ दिये गए थे, ठीक तरह से रखने में कुछ असावधानी कर दी थी। वैसे शास्ता का सारिपुत्र पर अगाध प्रेम था, जैसा कि सम्यक् सम्बुद्ध का किसी भी प्राणी पर हो सकता था। सारिपुत्र ने ही भगवान् की समदर्शिता की गवाही देते हुए कहा है, "अपनी हत्या करने पर तुले देवदत्त के प्रति, चोर अंगुलिमाल के प्रति, धनपाल हाथी के प्रति और पुत्र राहुल के प्रति, सभी के प्रति मुनि समान थे।"† सारिपुत्र ने कायिक, वाचिक और मानसिक रूप से शास्ता की बड़ी सेवा की। यद्यपि भगवान् बुद्ध की सेवा का भार विशेषतः आनन्द पर था और उन्होंने इसे अच्छी तरह निभाया भी, पर सारिपुत्र भी इस बात में बड़े सजग रहते थे। सारिपुत्र का यह दृढ विश्वास था कि "मार-सेना को दमन करने वाले एक बुद्ध के प्रति श्रद्धा रखना, एकमात्र उनकी शरण में जाना और उनको प्रणाम करना, भव-सागर से तार सकता है।"‡ उनका ही यह उदार सिंहनाद था कि बुद्ध जैसा अद्भुत पुरुष न तो अब तक

---

* चातुम-सुत्तन्त (मज्झिम २।२।७) यह कथा सुत्त-निपात के धनिय-सुत्त (१-२-२) में भी आती है। देखिए मिलिन्द-प्रश्न पृष्ठ २२७-२८

† मिलिन्द-प्रश्न, पृष्ठ ५०१ (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)

‡ मिलिन्द-प्रश्न, पृष्ठ २९६

संसार में हुआ है और न होगा।"* यद्यपि इस प्रकार के उद्गार को स्वयं शास्ता ने कुछ महत्त्व नहीं दिया और इसे सारिपुत्र की अल्पज्ञता ही माना; किन्तु आजतक के इतिहास ने सारिपुत्र के कथन को झूठा साबित नहीं किया है। आज भी हम 'बुद्ध' को संसार के इतिहास का सबसे बड़ा नाम मानते हैं।

सारिपुत्र का अपने गुरु-भाइयों के प्रति भी अत्यन्त स्नेह और उदारता का बर्ताव था। होता भी क्यों नहीं? "यदि आज ही प्रव्रजित हुआ सात वर्ष का श्रामणेर भी हो और वह भी मुझे कुछ सिखावे तो मैं सहर्ष स्वीकार करूंगा। बड़े आवभगत से मैं उसका दर्शन कर उसका स्वागत करूंगा। बारबार अपने आचार्य के स्थान पर उसे सत्कार-पूर्वक बैठाऊंगा—"† ऐसी उनकी उदार भावना थी। एक बार की बात है कि सारिपुत्र कुछ असावधानी से चले जा रहे थे और उनका वस्त्र नीचे जमीन पर लटक रहा था। झट एक नव-आगन्तुक भिक्षु ने ताना मारते हुए महास्थविर को स्मरण कराया कि उनका वस्त्र ऊंचा होना चाहिए। सारिपुत्र ने भिक्षु को धन्यवाद दिया कि उसने उनकी गलती उन्हें सुझा दी और वस्त्र ठीक कर लिया। महामौद्गल्यायन के अतिरिक्त आनन्द से भी सारिपुत्र की बड़ी घनिष्ठता थी। आनन्द का भी सारिपुत्र के प्रति अपार आदर था। दोनों के अनेक धार्मिक संलाप सुत्त पिटक में लेखबद्ध हैं। संयुत्त-निकाय के सारिपुत्त-संयुत्त में आनन्द ने धर्मसेनापति से पूछा है कि उन्होंने अपने चित्त को शान्त कैसे किया है? इसका उत्तर देते हुए सारिपुत्र ने कहा है, "एकान्तवास से उत्पन्न सुख और सौमनस्य (मन की प्रसन्नता) से युक्त प्रथम ध्यान में स्थित

---

* विस्तार के लिए देखिए, महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ. २।३)

† सारिपुत्र-वचन, मिलिन्द-प्रश्न, पृष्ठ ४८७ में उद्धृत (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)

हो कर 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा है' इस प्रकार के विचार को त्याग कर मैंने अपनी इन्द्रियों को शमित किया है।" राहुल सारिपुत्र की देखरेख में ही भगवान् के द्वारा छोड़ दिये गए थे। राहुल को प्रव्रजित भी सारिपुत्र ने ही किया था। राहुल-माता के प्रति भी सारिपुत्र की बड़ी गहरी निष्ठा थी। एक बार जब वह बीमार पड़ी तो राहुल ने उनकी दवा-दारू के विषय में सारिपुत्र से सलाह ली थी और सारिपुत्र ने कहीं से आम का रस लाकर उन्हें दिया था, जिससे उनकी पीड़ा शान्त हुई थी। गृहस्थ शिष्यों में अनाथपिण्डिक से सारिपुत्र का घनिष्ठ स्नेह था और जिस समय यह गृहस्थ साधक मरण-शय्या पर पड़ा हुआ था, सारिपुत्र ने उसके पास जाकर उसे अनासक्ति-योग का उपदेश दिया था, जो 'अनाथ पिण्डिकोवाद सुत्तन्त' (मज्झिम-३।५।१) में निहित है। उसे सुनकर इस मरणासन्न व्यक्ति के चित्त को बहुत शान्ति और स्फूर्ति मिली थी। अपने से छोटे भिक्षुओं के प्रति सारिपुत्र बहुत प्रेम रखते थे, उन्हें ऊंची अवस्था प्राप्त करने के लिए सदा उत्साहित किया करते थे और उनकी सफलता देख-कर प्रसन्नता प्रकट किया करते थे। यह बात नहीं है कि सारिपुत्र से कोई द्वेष करने वाला ही न हो। ऐसे भी भिक्षु थे जो सारिपुत्र से भी द्वेष रखते थे, किन्तु सारिपुत्र ने तो उन सबसे प्रेम ही किया। देवदत्त जैसे दुर्बुद्धि भिक्षु के भी गुणों का स्मरण करना सारिपुत्र नहीं भूलते थे। वह सबके ही गुण ग्रहण करने वाले थे। भिक्षु-संघ के अनेक भिक्षुओं के प्रति सारिपुत्र के मार्ग-प्रदर्शन और उपदेश आदि के विवरण दिये जा सकते हैं, किन्तु यहाँ हम केवल सारिपुत्र के द्वारा दिये हुए उस उपदेश के ही कतिपय अंश उद्धृत करेंगे जो उन्होंने आत्महत्या करने पर तुले हुए छन्न नामक भिक्षु को दिये थे। छन्न भिक्षु बहुत बीमार पड़ गया था और वह आत्महत्या करना चाहता था। सारिपुत्र ने उसके पास जाकर कहा—

"आवुस छन्न! अच्छी तरह से तो हो? काल-यापन तो हो रहा

है ? दुःख-वेदनाएँ हट तो रही हैं, लौट तो नहीं रहीं ? व्याधि का हटना तो मालूम हो रहा है, लौटना तो मालूम नहीं हो रहा ?"

"आवुस ! सारिपुत्र ! मेरी दशा ठीक नहीं है। अत्यधिक दाह हो रहा है। आवुस ! सारिपुत्र ! मैं बेचैन हूँ। आवुस सारिपुत्र ! मैं आत्महत्या करूंगा। मैं जीना नहीं चाहता।"

"आयुष्मान् छन्न ! आत्महत्या न करें। गुजार दें, आयुष्मान् छन्न ! हम आयुष्मान् छन्न को गुजारते देखना चाहते हैं। यदि आयुष्मान् छन्न को अनुकूल भोजन नहीं है तो मैं अनुकूल भोजन खोज लाऊंगा। यदि आयुष्मान् छन्न को अनुकूल औषध प्राप्त नहीं है तो मैं औषध ले आऊंगा। यदि आयुष्मान् छन्न की योग्य सेवा करने वाला नहीं है तो मैं आयुष्मान् छन्न की सेवा करूंगा। आयुष्मान् छन्न आत्म-हत्या न करें।" * ये वाक्य पूरे सारिपुत्र को हमारे सामने रख देते हैं। यहाँ कोरी आदर्शवादिता नहीं थी, किन्तु दुःखी मानवता को सेवा करने की क्रियात्मक साधना थी। इन पंक्तियों की गम्भीरता गौतम बुद्ध के प्रधान शिष्य के अनुकूल ही है। कहानी को पूरी रखते हुए कहना पड़ता है कि छन्न ने सारिपुत्र के आदेश को नहीं माना और बाद में आत्महत्या कर ली।

इसी दुःखमय घटना के साथ हम सारिपुत्र के अन्तिम जीवन की ओर भी मुड़ते हैं। कदाचित् यह अधिक करुणा की नदी बहाना कहा जाय, पर इनसे जीवन में बचना कहाँ है ! सारिपुत्र ने जिस शान्त भाव से, पूर्ण अनासक्ति के साथ, शरीर से सम्बन्ध छोड़ा, वह अपनी गम्भीरता में तथागत के महापरिनिर्वाण से किसी प्रकार कम नहीं है। मगध में नालक ग्राम में रोगग्रस्त होने पर सारिपुत्रने श्रावस्ती में जाकर भगवान् से निवेदन किया—

"भन्ते ! भगवान् अनुज्ञा दें। सुगत अनुज्ञा दें, मेरा परिनिर्वाण

* छन्नोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।५।२),

काल है। आयु-संस्कार समाप्त हो चुका।"

कहाँ परिनिर्वाण करोगे ?"

"भन्ते ! मगध देश में नालक ग्राम में जन्म-गृह है। वहाँ परि-निर्वाण करूंगा।"

"सारिपुत्र ! जिसका तू काल समझे, वैसा कर" (यस्स दानि त्वं सारिपुत्त कालं मञ्ञसीति) स्थविर ने रक्तवर्ण हाथों को फैलाकर शास्ता के चरणों को पकड़ कर कहा—

"भन्ते ! इन चरणों की वन्दना के लिए सौ हजार कल्पों से अधिक कालतक मैंने असंख्य पारमिताएँ पूरी कीं। वह मेरा मनोरथ आज सिर तक पहुंच गया। अब आपके साथ फिर जन्म लेकर एक स्थान में एकत्रित होना नहीं है। अब यह विश्वास छिन्न हो चुका। अनेक शत-सहस्र बुद्धों के प्रवेश-स्थान, अजर, अमर, क्षेम, सुख, शीतल, अभय निर्वाण-पुर जाऊँगा। यदि मेरा कोई कायिक या वाचिक कर्म भगवान् को न रुचा हो तो मुझे क्षमा करें। मेरा जाने का समय है !"

"सारिपुत्र ! तुझे क्षमा करता हूँ। तेरा कुछ भी कायिक या वाचिक कर्म ऐसा नहीं है जो मुझे नापसन्द हो। अब तू सारिपुत्र ! जैसा उचित समझे कर।"*

सारिपुत्र के चलते समय शास्ता भी धर्म-सेनापति के सम्मान के लिए उठकर गन्धकुटी के सामने जा खड़े हुए।

सारिपुत्र ने भगवान् की तीन बार प्रदक्षिणा कर, चार अङ्गों से वन्दना की—

"भगवन् ! आज से असंख्य हजार कल्प से अधिक समय तक अनोमदर्शी बुद्ध के पादमूल में बैठकर मैंने तुम्हारे दर्शन की प्रार्थना की थी। वह मेरी प्रार्थना पूरी हुई। तुम्हें देख लिया। यह तुम्हारा प्रथम

---

* बुद्धचर्या, पृष्ठ ५१२

दर्शन था, यह अन्तिम दर्शन। अब फिर तुम्हारा दर्शन नहीं होगा।"*

यह कह हाथ जोड़कर जब तक भगवान् नजर के सामने थे, बिना पीठ दिखाये, सामने मुख रखते ही चलकर, वन्दना कर, सारिपुत्र चल दिये। भिक्षु बिलखते हुए चिल्लाने लगे, "स्थविर! किसके हाथ में शास्ता को सौंप कर जा रहे हो?" सारिपुत्र का उनके लिए यही अन्तिम सन्देश था, "सबको ही यह गन्तव्य मार्ग है। आवुसो! दशबल (बुद्ध) के विषय में लापरवाही मत करना।" प्यारे शास्ता और प्यारे सब्रह्मचारियों, आनन्द और मौद्गल्यायन सभी को छोड़कर सारिपुत्र चल दिए। कुछ भिक्षु उनके साथ भी गए।

नालक ग्राम के दरवाजे पर पहुँचते ही उन्हें उपरेवत (सारिपुत्र के भानजे) मिले। चुन्द समणुद्देस भी, जो सारिपुत्र के छोटे भाई थे, सारिपुत्र के साथ ही थे। सारिपुत्र की माता ने उन्हें आता हुआ देखकर समझा कि मेरा बेटा अब बुढ़ापे में गृहस्थी बसाने की इच्छा से फिर गाँव में लौट कर आया है। बुढ़िया बडी प्रसन्न हुई। नाना प्रकार की तैयारियाँ करने लगी; किन्तु जब उसे ठीक बात मालूम हुई तो वह सारिपुत्र से बोली तक नहीं। एक अलग कमरे में जाकर बैठ गई; परन्तु सारिपुत्र के दिव्यशक्ति-प्रदर्शन से उसे बुद्ध के विषय में श्रद्धा उत्पन्न हो गई और सारिपुत्र ने समझा कि माता के प्रति मैंने अपना ऋण चुका दिया। "मैंने माता रूपसारि ब्राह्मणी को पोसने का दाम चुका दिया, इतने से वह निर्वाह कर लेगी।"† स्थविर सारिपुत्र को खून गिरने की सख्त बीमारी पैदा हुई, और उन्होंने अपने छोटे भाई चुन्द समणुद्देस से पूछा, "समय क्या है?" उत्तर मिला, "बहुत तड़के का समय है, पौ फटना ही चाहती है।"

"भिक्षु-संघ को जमा करो।"

---

* बुद्धचर्या, पृष्ठ ५१४

† बुद्धचर्या, पृष्ठ ५१५

सारिपुत्र ने विज्ञापित किया—

"आवुसो ! तुम्हें मेरे साथ विचरते चवालीस वर्ष हो गए, जो कोई मेरा कायिक या वाचिक कर्म तुम्हें अरुचिकर हुआ हो, आवुसो ! उसे क्षमा करो ।"

"भन्ते ! इतने समय तक आपको छाया की भाँति बिना छोड़े विचरते, हमें अरुचिकर कुछ भी नहीं हुआ; किन्तु आप हमारे दोषों को क्षमा करें ।"* साथी भिक्षुओं ने कहा ।

महास्थविर ने वस्त्र से अपने मुख को ढँक लिया और दाहिने करवट से लेट गए। अपने शास्ता की तरह ही उन्होंने नौ समापत्तियों (ध्यानों) में प्रवेश किया। प्रथम ध्यान से लेकर चतुर्थ ध्यान पर्यन्त ध्यान लगाया। उस चतुर्थ ध्यान से उठने के बाद ही परिनिर्वाण को प्राप्त होगए। "मेरा पुत्र कुछ बोलता क्यों नहीं है ?" माता रूपसारि अपने रुँधे हुए गले से कहने लगीं और फिर "तात ! पहले हमने तुम्हारे गुणों को नहीं जाना" कहकर रोने लगीं। सारिपुत्र ने शान्त, मंगलमय पद (निर्वाण) मे प्रवेश किया।

सारिपुत्र का परिनिर्वाण कार्तिक मास की पूर्णिमा को हुआ। चुन्द समणुद्देस ने उनकी दाह-क्रिया की और उनके वस्त्र, भिक्षा-पात्र और अस्थियों (धातुओं) को लेकर भगवान् बुद्ध के पास आए। अस्थियों को हाथ में लेकर भगवान् ने भिक्षुओं को सम्बोधित किया—

"भिक्षुओ ! महाप्रज्ञावान् यह भिक्षु था, अल्पेच्छ यह भिक्षु था, सन्तुष्ट, एकान्त-प्रेमी, उद्योगी, पाप-निन्दक यह भिक्षु था। देखो भिक्षुओ ! महाप्राज्ञ की इन धातुओं को ! क्षमा-बल में वह पृथ्वी के समान हो कर कभी कुपित नहीं होता था, न इच्छाओं के वशवर्ती होता था, वह अनुकंपक, कारुणिक, निर्वाण को प्राप्त होगया। भिक्षुओ ! निर्वाण-प्राप्त सारिपुत्र की वन्दना करो।

---

* बुद्धचर्या, पृष्ठ ५१६

"जो पाँच सौ जन्मों तक मनोरम भोगों को छोड़ कर प्रव्रजित होता रहा, उस वीत-राग, जितेन्द्रिय, निर्वाण-प्राप्त सारिपुत्र की वन्दना करो।

"जैसे टूटे सींगों वाला साँड़, नगर के भीतर बिना किसी को मारते विचरता है, वैसे ही यह सारिपुत्र विचरता था। भिक्षुओ! निर्वाण-प्राप्त सारिपुत्र की वन्दना करो!

"भिक्षुओ! जैसे महान् वृक्ष के खड़े रहते भी उसके सारवाले महास्कन्ध (शाखाएं) टूट जाएं, इसी प्रकार भिक्षुओ! तथागत को भिक्षु-संघ के रहते भी सारवाले सारिपुत्र का परिनिर्वाण है। पर आश्चर्य है भिक्षुओ! अद्भुत है भिक्षुओ! तथागत को शोक-परिदेव नहीं है। भिक्षुओ! वह कहां से मिले जो जात, भूत, संस्कृत है। इसलिए भिक्षुओ! आत्मदीप, आत्मशरण, अनन्य-शरण होकर विहरो।"* सारिपुत्र की अस्थियों को स्थापित कर कालपिनाक नामक नगर में स्तूप बनाया गया जिसे बाद में पाँचवीं शताब्दी में भारत आने वाले चीनी यात्री यून च्वांग ने देखा था।

शास्ता परमज्ञानी थे, इसलिए दुःख को दबा गए, पर आनन्द अपने को सँभाल नहीं सकते थे। भिक्षु-संघ के लिए सारिपुत्र का परिनिर्वाण एक गहरी वेदना की चोट थी। मौद्गल्यायन ने पन्द्रह दिन बाद ही उनका अनुगमन किया और शास्ता के आयु-संस्कार समाप्त होने में अभी छह महीने और शेष थे।

सम्यक् सम्बुद्ध के सबसे बड़े शिष्य की यह संक्षिप्त-सी जीवन-स्मृति है। निश्चय ही सारिपुत्र जैसे साधकों को लक्ष्यकर ही भगवान् ने कहा था, "यं मया सावकानं सिक्खापदं पञ्ञत्तं तं मम सावका जीवित हेतु पि नातिक्कमन्ति।† "जो सदाचार-नियम मैंने अपने

---

* बुद्धचर्या, पृष्ठ ५१७–१८

† अंगुत्तर निकाय, जिल्द चौथी पृष्ठ २०१ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण), विसुद्धि-मग्ग १।६८ में उद्धृत (आचार्य धम्मानन्द कोसम्बी का संस्करण)

शिष्यों को प्रज्ञप्त किये हैं, उनका वे कभी अपने प्राणों के लिए भी अतिक्रमण नहीं करते।" सारिपुत्र का अनिन्दित जीवन शास्ता को देखने का भी वास्तव में एक स्वच्छ, अनाविल दर्पण है, और उनके अपूर्व शील, समाधि और प्रज्ञा से स्फीत जीवन और अलमार्य-ज्ञान-दर्शन को देखकर आज भी यदि कोई साधक कहे 'पटिपादेसि मे मग्गं तव आणेन, चक्खुमा' (चक्षुष्मान् बुद्ध ने भी तुम्हारे ही ज्ञान के द्वारा मुझे मार्ग पर प्रतिष्ठित किया) तो यह अतिशयोक्ति नहीं मानी जा सकती। सारिपुत्र ने ही हमें सबसे पहले बताया है कि शास्ता का 'धम्म' जीवन का एक 'मार्ग' ('मग्ग') मात्र था, निर्वाण की प्राप्ति का एक 'उपाय' मात्र था, मानसिक आयासों का साधन नहीं। इसीलिए तो बुद्ध-मन्तव्य का विवेचन करने वाले नागसेन और बुद्धघोष जैसे महास्थविरों ने भी बार-बार 'भासितं पेतं थेरेन सारिपुत्तेन धम्मसेनापतिना' 'वुत्तं पेतं थेरेन सारिपुत्तेन धम्मसेनापतिना' आदि रूप से सारिपुत्र के वचनों की ही दुहाई दी। पर बहुत से भी क्या, हे सारिपुत्र! हे रूपसारिसम्भव, अज्ञात, अल्पेच्छ, महासाधक! इन सब प्रशंसात्मक साक्ष्यों की भी तुझे क्या अपेक्षा, जब स्वयं विश्व के शास्ता ने ही, जिसमें तेरी अपार श्रद्धा थी, तुझे धर्म का सेनापति बनाया! माता रूपसारि के गर्भ में सोने के बाद, हे 'अपगर्भ' अन्य माता की कोख में 'विज्ञान' (चित्त-धारा, जीव) बनकर तुम्हारा आना नहीं हुआ। अनुपाधि-शेष-निर्वाण-धातु को प्राप्त कर तुम सदा ही विमुक्त और सबसे परे हो। पर फिर भी केवल हमारे कल्याण के लिए, हे धर्मसेनापते! हमारा प्रणाम स्वीकार करो—"भिक्षुओ! सारिपुत्र की वन्दना करो।"

: ५ :

आनन्द

आनन्द भगवान् बुद्धदेव के प्रधान शिष्यों में से थे। आनन्द को भगवान् के उपस्थाक (उपट्ठाक) या शरीर-सेवक होने का पद प्राप्त था। भगवान् बुद्ध के सभी शिष्यों में आनन्द को सबसे अधिक उनके समीप रहने का अवसर मिला। चिर-काल तक आनन्द को तथागत की सेवा का सुयोग मिला। यह आनन्द के जीवन की एक बड़ी कृत-कृत्यता थी। बुद्ध-मात्र स्वयं परम शुश्रूषक होते हैं। वे देवताओं तक की सेवा को स्वीकार नहीं करते; पर साधक उनकी चाकरी में रह अपनी साधना की परिपूर्णता अवश्य देखते हैं। तथागत की दिनचर्या में लगनपूर्वक सहायता देकर, दशबल की बड़ी आत्मीयता-पूर्वक सेवा-उपचर्या कर, स्थविर आनन्द आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए निश्चय ही एक अपूर्व स्मृति छोड़ गए हैं।

बौद्ध पालि-ग्रन्थों से पता लगता है कि आनन्द वास्तव में आनन्द-मूर्ति थे। "सौम्य! तेरा मुख तो ब्रह्मवेत्ता के समान ही चमकता है"—यह उपनिषद्-वाणी आनन्द के विषय मे सदा ही कही जा सकती थी। शरीर की सौम्यता में वे अद्वितीय थे और स्वभाव के थे बड़े मृदु। मनुष्यता तो उनके स्वभाव की सबसे बड़ी विशेषता थी। आनन्द को भिक्षु-संघ 'धर्मभाण्डागारिक' (धम्मभण्डागारिक) अर्थात् 'धर्म का भण्डारी' कह कर पुकारता था। इसमें कुछ-न-कुछ विनोद तो था ही, साथ ही आनन्द का विशिष्ट महत्त्व भी अङ्कित था। आनन्द बहुश्रुत थे, पण्डित थे। भगवान् बुद्ध के सतत साथी होने के नाते बुद्ध-वचन

सबमें अधिक उन्होंने सुने थे और उन्हें अपनी स्मृति में सुरक्षित भी रक्खा था। कहा जाता है कि आनन्द की स्मरण-शक्ति बड़ी तेज़ थी। जो कुछ भगवान् बुद्ध बोलते थे, वह उसको याद कर लेते थे। एक से लेकर साठ हजार शब्दों तक, ठीक क्रम से, बिना एक अक्षर भी छोड़े हुए, वे कंठस्थ कर लेते थे। एक ही बार साठ हजार पंक्तियों की पन्द्रह हज़ार गाथाओं (श्लोकों) को भी सुनकर आनन्द याद कर लेते थे। इसी कारण सम्भवतः भगवान् बुद्ध ने उन्हें अपने स्मृतिमान् और बहुश्रुत भिक्षु-शिष्यों में प्रधान कहा था, "भिक्षुओ! मेरे बहुश्रुत, स्मृतिमान्, गतिमान् और धृतिमान् भिक्षु-शिष्यों में यह आनन्द ही सर्वश्रेष्ठ है।" परन्तु केवल स्मृतिमान् और बहुश्रुत होने से ही बौद्ध संघ में विशेष आदर नहीं हो सकता था ? इसीलिए बौद्ध संघ ने आनन्द को 'धर्म का भण्डारी' कहा था, जबकि सारिपुत्र को उन्होंने 'धर्म का सेनापति' कहा। आनन्द में 'धर्मभाण्डागारिक' होने के अलावा अनेक विशेष गुण थे, किन्तु विपश्यना में वे उतने बड़े-चढ़े नहीं थे, जितने सारिपुत्र, महामौद्गल्यायन, महाकाश्यप या भगवान् बुद्ध के अन्य कई शिष्य। जबकि सारिपुत्र धर्म और ज्ञान का स्वामित्व करते थे, जीवन में प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर विहरते थे, तो आनन्द लगे थे विशेषतः उसके भण्डार को अपने स्मृति रूपी आगार में सञ्चय करने में। इसीलिए हम कहते हैं कि सारिपुत्र यदि 'धर्मसेनापति' थे तो आनन्द 'धर्मभाण्डागारिक'; पर इसका भी एक महत्त्व था, जैसा हम आगे देखेंगे। जहाँ 'धर्म' (सत्य, ऋत, विश्व-नियम) रूपी राजा का कोई सेनापति हो, वहां उसके विशाल भण्डार को रखने वाला, और रखने वाला ही क्यों, बड़ी सावधानी और ईमानदारी के साथ उस थाती को भावी पीढ़ी के लिए देने वाला भी, उदार और चतुर भण्डारी कोई होना ही चाहिए। आनन्द ही 'धर्मराज' (बुद्ध) के भण्डारी थे।

आनन्द शाक्यवंशीय क्षत्रिय थे। अतः कहना चाहिए कि भगवान्

के सगोत्र ही थे। सगोत्र ही क्यों, इससे भी अधिक वे भगवान् के साथ सम्बन्धित थे। कपिलवस्तु में शुद्धोदन के छोटे भाई अमृतौदन शाक्य के आनन्द पुत्र थे। अतः रिश्ते में वह भगवान् बुद्ध के चचेरे भाई थे। भगवान् बुद्ध के लिए तो इन रिश्तों का मूल्य ही क्या हो सकता था? सम्पूर्ण प्राणि-जगत् ही उनकी करुणा का समान रूप से भागी था। चाहे आनन्द हो, चाहे चाण्डाल-पुत्र, चाहे सारिपुत्र हो, चाहे आततायी अंगुलिमाल, समदर्शी मुनि की कृपा के तो समान रूप से ही भाजन थे; किन्तु शाक्य लोग तो फिर भी अपने को परम सौभाग्यवान् मानते थे। प्रसेनजित् तो कोशल का था। फिर भी "भगवान् क्षत्रिय हैं, मैं भी क्षत्रिय हूं। भगवान् कोशलक (कोशल-वासी) है, मैं भी कोशलक हूँ"— इतने से ही अपने को धन्य समझता था। फिर शाक्यों का तो कहना ही क्या? परन्तु शाक्य लोग स्वभाव से क्रोधी भी थे, अभिमानी भी थे। अभिमान, कभी-कभी मिथ्या अभिमान भी, उनके स्वभाव की एक बड़ी कमजोरी थी। हम जानते हैं कि रोहिणी नदी के बाँधवाले मामले पर तो उनके अपने पड़ोसी कोलिय क्षत्रियों से सिर-फुटौवल की नौबत आगई थी। जातिवाद का अभिमान भी इन क्षत्रियों में बहुत अधिक था। 'आर्य-वंश' की परम्परा के अनुसार, जब सम्यक् सम्बुद्ध पहली बार कपिलवस्तु आने पर, हाथ में भिक्षा-पात्र लेकर भिक्षा के लिए निकले थे, तो हम उनके अभिमानी पिता के वास्तविक क्लेश को समझ सकते हैं। 'आर्यवंश' (ज्ञानियों के वंश) की परम्परा यह भले ही रही हो, पर शाक्य-वंश की यह परम्परा नहीं थी। यह वीर इक्ष्वाकुओं का वंश था, जो अपने कुल पर वास्तविक अभिमान कर सकता था; पर तथागत के गौरव ने तो इस जातिवाद के अभिमान को प्रथम दर्शन में ही न जाने कहां विलीन कर दिया, यह हम शाक्यकुमार आनन्द की प्रव्रज्या के प्रसंग में भली प्रकार देखते हैं।

बुद्धत्व प्राप्त करने के दूसरे वर्ष भगवान् बुद्ध कपिलवस्तु के समीप अनूपिया नामक कस्बे में उपदेश कर रहे हैं। शाक्यकुमारों ने भी उनके

विषय में सुना है और उनमें भी अपने जीवन को सार्थक करने की इच्छा का उदय हुआ है। छः शाक्यकुमार, भद्दिय, अनुरुद्ध, आनन्द, भृगु, किम्बिल और देवदत्त, जिस किसी प्रकार अपने माता-पिताओं से आज्ञा लेकर भगवान् बुद्ध के पास पहुँचे हैं। साथ में उनके अपना एक नाई भी है, जो प्रेम और स्वामिभक्ति के कारण अपने स्वामि-पुत्रों के साथ ही चला आया है। शाक्यकुमारों ने इस नाई को अपने सब आभूषण और द्रव्य आदि देकर लौटाने का प्रयत्न किया, किन्तु उन सभी आभूषणों और द्रव्य को एक वृक्ष पर लटका कर "जो देखे, उसको दिया, ले जाय" यह घोषणा कर यह आप्तकाम नाई फिर अपने स्वामिपुत्रों के साथ ही बुद्ध के समीप आ गया। बुद्ध-उपदेश को सुनकर शाक्यकुमारों को बुद्ध-शासन में रहकर प्राणि-मात्र की सेवा करने की इच्छा जाग पड़ती है। इसके सबसे बड़े बाधक जातिवाद के बन्धन को ही वे सबसे पहले तोड़ते हैं। जातिवाद के लिए सबसे पहला प्रायश्चित्त हमारे देश के इतिहास में शाक्यकुमार ही करते हैं—"भन्ते! हम शाक्य अभिमानी होते हैं। यह उपालि नाई चिर-काल तक हमारा सेवक रहा है। इसे भगवान् पहले प्रव्रजित कराएँ, ताकि हम इसका अभिवादन करें, प्रत्युत्थान करें, इसके सम्मानार्थ खड़े हों, इसके हाथ जोड़ें, इसकी वन्दना करें। इस प्रकार हम शाक्यों का शाक्य होने का अभिमान मर्दित होगा।"* भगवान् ने पहले उपालि नाई को ही प्रव्रजित कराया। बाद में उन शाक्यकुमारों की प्रव्रज्या हुई, जिनमें आनन्द भी एक थे।

आनन्द आदि शाक्यपुत्रों का संन्यास हमारे इतिहास की एक स्मरणीय और समस्योत्पादक घटना है। यह उस प्रवृत्ति की प्रथम परिचायिका है, जिसके वशीभूत होकर ब्राह्मणेतर जातियों ने भी, विशेषतः क्षत्रियों ने, संन्यास-ग्रहण शुरू कर दिया और धर्मोपदेश

* बुद्धचर्या, पृष्ठ ६१

भी करने लगे। इससे पहले विधिवत् संन्यास-ग्रहण पर तो ब्राह्मणों का ही एकाधिकार था। बुद्ध ने इस एकाधिकार को मिटाया। नतीजा यह हुआ कि कुमारिल जैसे कट्टर वेदवादियों ने इसके लिए उन्हें कभी क्षमा नहीं किया। उन्हें क्षात्र धर्म से पतित माना। किन्तु आनन्द आदि साधकों ने क्षात्र धर्म का परित्याग किया, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वास्तव में तो उन्होंने अपने शास्ता से असली क्षात्र-धर्म को ही सीखा, अर्थात् मानवता के घावों को पूरने का धर्म, जिसके अधिक अच्छे साधन हैं—मैत्री, सेवा और करुणा न कि शस्त्र-ग्रहण। काषाय वस्त्र पहनने वाले बुद्ध और 'वैदेह मुनि' (ऐसा भी एक जगह आनन्द को कहा गया है) आनन्द हमारे लिए एक आदर्श क्षत्रिय ही हैं। उनमे हमारे राष्ट्रीय और सांस्कृतिक जीवन को जो ज्योति मिली है, उसके मूल्य का ठीक अनुमापन नहीं किया जा सकता।

बुद्धत्व प्राप्ति के बीस वर्ष बाद तक अनेक भिक्षु भगवान् बुद्ध की सेवा करते रहे। इस बीच जिन भिक्षुओं ने भगवान् की सेवा की उनके नाम हैं, नागसमाल, नागित, उपवाण, सुनक्षत्र, चुन्द समणुद्देस, स्वागत, राध और मेघिय। कहना ही पड़ता है कि इन भिक्षुओं की सेवा से भगवान् विशेष प्रसन्न नहीं थे। उन्हें खिन्न होकर एक बार कहना ही पड़ा, "भिक्षुओ! अब मैं वृद्ध हूँ। किन्हीं-किन्हीं भिक्षुओं से कहता हूँ कि इस रास्ते से चलो, तो वे दूसरे ही रास्ते से चले जाते हैं। कोई-कोई तो मेरे भिक्षा-पात्र और वस्त्रों को ही भूमि पर रख कर चले जाते हैं। भिक्षुओ! मेरे लिए एक नियत परिचारक (उपस्थाक) खोजो।" यह सुनकर भिक्षुओं को खेद हुआ। सबसे पहले सारिपुत्र ने उठकर, भगवान् की वन्दना कर अपनी सेवाएं अर्पित कीं, किन्तु भगवान् ने इसे उचित नहीं समझा। इसी प्रकार भगवान् ने अपने अन्य शिष्यों की सेवाओं को अस्वीकार कर दिया। आनन्द तो चुपचाप बैठे ही रहे। उन्होंने अपने आपको

समर्पित ही नहीं किया। कुछ भिक्षुओं ने उनसे कहा, "आवुस! भिक्षु-संघ उपस्थाक-पद माँग रहा है, तुम भी माँगो।" स्वाभिमानी आनन्द का केवल यही उत्तर था, "आवुसो! माँगकर स्थान पाया तो क्या पाया? क्या भगवान् मुझे देख नहीं रहे हैं? यदि चाहेंगे तो स्वयं ही कहेंगे—"आनन्द! मेरी सेवा कर।" भगवान् हृदय की बात जानते थे। बोले, "भिक्षुओ! आनन्द को उपस्थाक-पद-याचना करने के लिए बाध्य न करो। वह स्वयं ही जानकर मेरी सेवा करेगा।" अब तो भिक्षुओं की भी बन आई। बोले "उठो आवुस आनन्द! अब तो दशबल से उपस्थाक-पद माँगो।" पर आनन्द तो अपने कर्म और अधिकारों को अच्छी तरह जानते थे और आत्म-गौरव में भी वे क्या कम थे? झट अपनी शर्तें पेश कर दीं। पहले उन्होंने तथागत से चार निषेधात्मक अधिकार (प्रतिक्षेप) माँगे जिनकी प्राप्ति पर ही वे उनके सेवक नियत हो सकते थे। "(१) यदि भगवान् अपने पाए हुए उत्तम वस्त्र मुझे न दें (२) उत्तम भोजन मुझे न दें (३) गन्ध-कुटी में निवास न दें और (४) साथ निमन्त्रण में लेकर न जायँ, तो मैं नियत सेवक हो सकता हूं।" इतने से ही स्पष्ट हो जाता है कि आनन्द की आत्म-गौरव-भावना कितनी बढ़ी हुई और उदात्त थी, वे कितने निःस्पृह और शानदार व्यक्ति थे जो तथागत के गौरव से ही स्वयं गौरवान्वित नहीं होना चाहते थे, किन्तु अपनी भी कुछ विशिष्ट महत्ता रखते थे और साथ ही तथागत में कितने अनन्य भाव से अनुरक्त भी थे। चार बातें आनन्द ने और भी शर्तों के रूप में भगवान् के सामने रक्खीं "(१) जिस निमन्त्रण को मैं भगवान् के लिए स्वीकार कर लूँगा उसमें आपको जाना होगा (२) जो आदमी दूसरे राष्ट्र या जनपद से आपके दर्शनों के लिए आयेंगे, उन्हें जिस समय चाहूँगा आपसे मिलवा सकूँगा (३) जब भी मैं चाहूँगा आपके पास आ सकूँगा, और (४) मेरी अनुपस्थिति में जो भी धर्मोपदेश आप जहाँ

कहीं देंगे उसे आकर मुझे भी अवश्य सुनाना होगा।" कहने की आवश्यकता नहीं की भगवान् को ये सब शर्तें स्वीकार करनी ही पड़ीं। इस समय से लेकर भगवान् के महापरिनिर्वाण के समय तक, अर्थात् ठीक पच्चीस वर्ष तक छाया की तरह अनुगमन करते हुए आनन्द भगवान् की सेवा करते रहे और कहीं भी उनका साथ नहीं छोड़ा। इस सेवा की मार्मिकता हम उस समय और गम्भीरता से अनुभव कर सकते हैं, जब हम यह स्मरण रखें कि स्थविर आनन्द आयु में भगवान् बुद्ध के बिलकुल समान ही थे। जब इस समवयस्क शिष्य को हम भगवान् के वस्त्र सींते, पैर धोते, पंखा झलते, स्नान कराते, या अन्य सेवा-कार्य करते देखते हैं तो यह सब हमारे अन्तस्तल को स्पर्श किये बिना नहीं रहता। "आनन्द!" सम्बोधन करते हुए जब हम भगवान् बुद्ध को देखते हैं तो साधारणतः ऐसा लगता है मानो अपने से अवस्था में किसी बहुत छोटे शिष्य को वे सम्बोधन कर रहे हों। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। वास्तव में एक वृद्ध गुरु अपने ठीक समवयस्क वृद्ध शिष्य को ही सम्बोधन कर रहा है। शिष्य भी अपने कर्तव्य में युवा पुरुष से भी अधिक जागरूक है। सम्भवतः वह शारीरिक शक्ति में अपने शास्ता से बहुत अधिक है और आयुसंस्कार तो निश्चय ही उसके उनसे बहुत अधिक चलते हैं। इस प्रसङ्ग के प्रकाश में ही हमें इन शास्ता और शिष्य के सम्बन्धों की दिव्य अनुभूति करनी चाहिए।

आनन्द भगवान् बुद्ध में बहुत अनुरक्त थे। कभी उनके लिए वे पानी खींच कर लाते, कभी उनके निवासस्थान मूलगन्ध-कुटी की झाड़ू लगाते, कभी उनके शरीर की मालिश करते और कभी बिस्तर लगाते। सारांश यह कि आनन्द की सम्पूर्ण दिनचर्या ही तथागत की सेवा के लिए अर्पित थी। भगवान् के शरीर में जो-जो गतियां अथवा परिवर्तन हुआ करते थे, आनन्द उन सबसे अवगत रहा

भगवान् को थोड़ा--सा भी कष्ट होने पर वे विकल हो जाया करते थे। बुद्ध की सेवा को उन्होंने अपने जीवन का व्रत ही बना लिया था। रात में सोना भी इस कर्मयोगी को कहां था? प्रतिदिन रात में नौ वार एक हाथ में एक वडा दीपक लेकर और दूसरे हाथ में एक वड़ा डंडा लेकर वे मूलगन्ध-कुटी के चारों ओर जाते थे, ताकि बुद्ध की निद्रा को कोई भंग न करे और जरूरत होने पर वे उनकी कोई सेवा भी कर सकें।

एक बार देवदत्त (भगवान् बुद्ध के विद्रोही शिष्य) के षड्यन्त्र से नीलगिरि नामक मस्त हाथी शराब पिलाकर भगवान् के ऊपर छोड़ा गया ताकि वह उनको कुचल डाले। आनन्द हाथी को देखकर अपनी जान की पर्वाह न कर भगवान् बुद्ध के सामने खडे हो गए। भगवान् बुद्ध ने तीन बार मना किया कि आगे से हट जाओ, परन्तु आनन्द न हटे।'* शास्ता के प्रति आनन्द का इतना अगाध प्रेम था! अपने प्रेम के पागलपन में वे शास्ता की आज्ञा की भी पर्वाह नहीं करते थे। एक ऐसा ही प्रसंग और है। एक बार भगवान् बुद्ध के पेट में वायु पैदा हुई। आनन्द ने रोग को ठीक करने की आतुरता मे घर के भीतर जाकर स्वयं अपने हाथ से एक विशेष प्रकार का दलिया बनाया, जिससे वे जानते थे कि रोग ठीक हो जायगा। भोजन बनाने की कला में भी आनन्द बड़े विज्ञ थे, परन्तु घर के अन्दर इस प्रकार बना हुआ भोजन भिक्षुओं के लिए निषिद्ध था, भिक्षु-संघ के नियमों के विरुद्ध था। आनन्द को इसके लिए शास्ता की फटकार सुननी पडी!

आनन्द भगवान् के उपस्थाक थे और इस पद से सम्बन्धित जितने काम थे, उन सबके करने में वह बडे सिद्धहस्त थे। भगवान् को जब कभी भिक्षुओं को बुलाना होता था, अथवा किसी के पास कोई सन्देश

---

* बाद मे तो शास्ता ने अपनी मैत्री-भावना से इस हाथी को आप्लावित कर दिया और वह आकर बच्चे की तरह सूंड से उनके पैर चाटने लगा।

भेजना होता था तो आनन्द को ही ये काम सौंपे जाते थे। भगवान् बुद्ध को कभी-कभी इधर-उधर की खबरें भी लाकर आनन्द दिया करते थे। "भन्ते! निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र ने अभी-अभी पावा में शरीर छोड़ा है।" इस प्रकार जैन-तीर्थङ्कर भगवान् महावीर की मृत्यु की सूचना भी भगवान् को आनन्द ने ही दी थी। इसी प्रकार देवदत्त के षड्यन्त्र की सूचना भी। भगवान् बुद्ध के गृहस्थ शिष्य या शिष्याएं जब कोई भेंट या उपहार लेकर आते, तो वे पहले आनन्द से ही सलाह लेकर आवश्यक कार्य करते थे। कभी कोई भिक्षु या गृहस्थ शिष्य आकर कहते थे, "भन्ते आनन्द! बहुत दिन से इधर हमें भगवान् का धर्म-उपदेश सुनने को नहीं मिला! भन्ते आनन्द! ऐसी कृपा करें जिससे हमें भगवान् का धर्म-उपदेश सुनने को मिले।" आनन्द उनकी तृप्ति करने का प्रयत्न करते थे। जहां वे आवश्यक समझते थे लोगों को भगवान् से मिला देते थे। इस प्रकार उन्हें हम अनेक व्यक्तियों को भगवान् से भेंट कराते हुए देखते हैं। एक बार समृद्ध नामक भिक्षु ने भगवान् के मन्तव्य को गलत ढंग से समझ कर उपदेश दे दिया था। उसे लेकर आनन्द भगवान् के पास गये, ताकि वह धर्म को ठीक तरह से समझ सके। एक बार हम आनन्द को भगवान् से प्रार्थना करते हुए देखते हैं कि वे किम्बिल और कुछ अन्य भिक्षुओं के प्रति प्राणायाम की विधि पर प्रवचन दें; क्योंकि इससे उन्हें लाभ होगा। जैसा भी समय और अवसर देखते थे, आनन्द अक्सर अपने शास्ता को प्रेरित किया करते थे। आनन्द की सब प्रार्थनाएं स्वीकृत हो ही जाती हों, ऐसी भी बात नहीं थी। एक बार आनन्द ने प्रार्थना की कि भगवान् प्रातिमोक्ष (भिक्षु-नियम) का उपदेश करें, किन्तु भगवान् ने इन्कार कर दिया। तीन बार आनन्द ने प्रार्थना की, किन्तु तीनों बार तथागत ने इन्कार कर दिया। कारण भी बाद में अवश्य बतला दिया गया। भगवान् ने एक बार शरीर की गन्दगियों पर इतना गम्भीर प्रवचन दिया कि कुछ भिक्षु उसे न समझ सके। न समझ कर उन्होंने शरीर के प्रति घृणा के भाव से उत्तेजित होकर

एकान्त में जाकर आत्म-हत्या कर ली। आनन्द ने यह बात भगवान् को सुनाई और ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए भगवान् को उपदेश करने की प्रार्थना की।

आनन्द भगवान् बुद्ध के बड़े भक्त थे। चूँकि भगवान् बुद्ध अक्सर घूमते रहते थे, इसलिए श्रावस्ती में उनके शिष्यों को सदा उनके दर्शन सुलभ नहीं होते थे। अनाथपिण्डिक का संघ के लिए दान किया हुआ प्रसिद्ध जेतवन बाग यहीं था, जहाँ भगवान् अक्सर आकर बीच-बीच में ठहरा करते थे। अनाथपिण्डिक की इच्छा हुई कि भगवान् यहां सदा तो रहते नहीं, इसलिए ऐसा कोई स्थान होना चाहिए जहां भगवान् के नाम पर हम उनके प्रति आदर-सत्कार प्रदर्शित कर सकें। अपनी इच्छा उन्होंने आनन्द से कही। आनन्द ने महामौद्गल्यायन की सहायता से भगवान् से यह अनुमति ले ली कि वे गया के बोधि-वृक्ष का बीज वहां लगा सकते हैं। बड़े आदर के साथ बीज लाया गया और जेतवन के प्रवेश-द्वार पर रोपा गया। आनन्द के अनुरोध से भगवान् को एक रात उस पेड़ के नीचे समाधि अवस्था में रहना पड़ा। भगवान् के दर्शनों के लिए जो यात्री आते इस पेड़ की पूजा अवश्य करते। चूंकि आनन्द ने इस पेड़ को लगाया था, इसलिए इसका नाम भी 'आनन्द-बोधि' हो गया।

आनन्द सदा यह ध्यान रखते थे कि जो कोई भी व्यक्ति आवश्यक कार्य से भगवान् बुद्ध से मिलने आए अथवा जिसे भगवान् के दर्शनों से लाभ मिलने की आशा हो उसे मिलने दिया जाय। किन्तु कभी-कभी उन्हें अवान्छनीय व्यक्तियों को रोकना भी पड़ता था। उदाहरण के लिए जब भगवान् मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए थे तो सुभद्र नामक परिव्राजक उनके दर्शनों के लिए आया। बोला, "भन्ते आनन्द! श्रमण गोतम का दर्शन करना चाहता हूं।" आनन्द ने उत्तर दिया—"नहीं आवुस सुभद्र! तथागत को तकलीफ मत दो। भगवान् थके हुए हैं।" तीन बार सुभद्र ने प्रार्थना की; किन्तु तीनों बार आनन्द ने

इन्कार कर दिया। भगवान् ने इसे सुना और बोले "आनन्द! सुभद्र को मना न करो। सुभद्र को तथागत का दर्शन पाने दो। जो कुछ सुभद्र पूछेगा, वह परमज्ञान की इच्छा से ही पूछेगा, तकलीफ देने की इच्छा से नहीं।" आनन्द क्या करते, विवश थे। बोले, "जाओ आवुस सुभद्र! भगवान् तुम्हें आज्ञा देते हैं।" इसी अवसर पर कुसीनारा के मल्ल लोग अपने परिवारों सहित भगवान् का अंतिम दर्शन करने आए। आनन्द ने सबको वर्गों में बांट-बांट कर एक के बाद एक करके थोड़े-से समय मे दर्शन करा दिए। इस प्रकार आनन्द भगवान् को बहुत-सी अनावश्यक असुविधाओं से बचाकर रखते थे। एक बार का जिक्र है कि उदय के पुत्र बोधिराजकुमार ने भगवान् को अपने प्रासाद में निमन्त्रित किया और उनके सम्मानार्थ बहुमूल्य गलीचे बिछवा दिए, जिनपर चलकर भगवान् प्रासाद में जायें। भगवान् यह नहीं कर सकते थे। आनन्द ने उनके मन्तव्य को समझ-कर बोधि राजकुमार को आदेश दे दिया, "राजकुमार! इन धुस्सों को समेट लो। भगवान् इनपर नहीं चलेंगे।"

'धर्म के भण्डारी' होने के नाते आनन्द के संघ मे भी अनेक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य थे। उदाहरण के लिए यह आनन्द का ही काम था कि धर्मोपदेश के बाद जो कोई पुरुष या स्त्री अपनी चीज़ भूल जाय उसे संभाल कर रखे। एक बार विशाखा अपने कुछ जेवर रखकर भूल गई थी। "एक ओर रख दो, आनन्द!" ऐसा आदेश भगवान् ने आनन्द को दिया था। स्थविर ने उठाकर उसे सीढी के पास रख दिया था। बाद मे विशाखा ने आनन्द के प्रति श्रद्धा-भावना से कहा, "इसे मेरे आर्य ने छुआ है। मैं अपने आर्य की छुई हुई चीज को नहीं पहनूँगी।" उसके मूल्य से उसने श्रावस्ती में भगवान् के निवास के लिए 'पूर्वाराम' नामक एक विहार बनवा दिया।

आनन्द छोटे-मोटे कामों के करने में भी बड़े कुशल थे। पहले भिक्षु बिना सिले कपड़े पहना करते थे। एक बार भगवान् ने मगध के खेतों में

अच्छी तरह बँधी हुई क्यारियों को देखकर आनन्द से कहा, "आनन्द ! देखते हो मगध के इन सुव्यवस्थित क्यारी-बद्ध खेतों को ?"

"हां भन्ते !"

"आनन्द ! क्या भिक्षुओं के लिए ऐसे चीवर बना सकते हो ?"

"हां भन्ते !"

कुछ दिनों बाद आनन्द ने कहा, "भन्ते ! भगवान् देखें मैंने चीवर बनाये हैं।" भगवान् को वस्त्रों का काट-छांट बहुत पसन्द आया। उन्होंने कहा, "भिक्षुओ ! आनन्द बड़ा पण्डित है, ज्ञानी है। इसने तो कुसी भी बनाई, आधी कुसी भी बनाई। मण्डल भी बनाया, आधा मण्डल भी बनाया। विवर्त भी बनाया, अनुविवर्त भी बनाया। ग्रैवेयक भी बनाया, जांघेयक भी बनाया, बाहन्त भी बनाया।"* भगवान् के वस्त्रों को सीने का काम खासतौर पर आनन्द ही करते थे।

आनन्द की मितव्ययिता की भावना बड़ी प्रबल थी। बिना आवश्यकता के वे किसी चीज का ग्रहण नहीं करते थे। हम अनेक बार देखते हैं कि जब भी उनके भक्तगण उन्हें कुछ देना चाहते हैं, तो इस अपरिग्रही भिक्षु का सदा यही कहना होता है, "मेरे पात्र और चीवर पूरे हैं, मुझे किसी चीज की जरूरत नहीं है।" अत्यधिक आग्रह के कारण यदि कोई चीज लेनी भी पड़ती तो या तो फिर वह शास्ता के अर्पण करने के लिए होती या सारिपुत्र आदि सम्माननीय गुरु-भाइयों की भेंट के लिए या फिर सम्पूर्ण संघ के उपयोग के लिए। एक बार राजा उदयन की रानियों ने आनन्द को ५०० चादरें भेंट दीं। उदयन को बड़ा आश्चर्य हुआ कि आनन्द इतनी अधिक चादरों को लेकर क्या करेंगे ? स्थविर आनन्द के पास जाकर उन्होंने पूछा,

"आनन्द ! आप इतने अधिक चीवरों का क्या करेंगे ?"

"महाराज ! जो फटे चीवर वाले भिक्षु हैं, उन्हें बांटेंगे।"

---

* नाना प्रकार के भिक्षु वस्त्र

"और जो पुराने चीवर हैं, उनका क्या करोगे ?"

"महाराज ! उन्हें बिछौने की चादर बनायेंगे ।"

"भन्ते आनन्द ! वह जो पुराने बिछौने की चादरें हैं, उनका क्या करोगे ?"

"उनसे गद्दे का गिलाफ बनायेंगे ।"

"जो वह पुराने गद्दे के गिलाफ हैं, उनका क्या करोगे ?"

"उनका महाराज, फर्श बनायेंगे ।"

"जो वह पुराने फर्श हैं, उनका क्या करेंगे ?"

"उनका महाराज ! पायन्दाज बनायेंगे ।"

"जो पुराने पायन्दाज हैं, उनका क्या करेंगे ?"

"उनका महाराज ! झाड़न बनायेंगे ।"

"जो पुराने झाड़न हैं, उनका क्या करेंगे ?"

"उनको कूटकर, कीचड़ के साथ मर्दन कर, पलस्तर करेंगे ।"*

इस संलाप से न केवल आनन्द की अपितु सम्पूर्ण बौद्ध संघ की मितव्ययिता पर काफी प्रकाश पड़ता है। दान की विशुद्धि कैसे की जाती है, इसे भिक्षु लोग अच्छी तरह जानते थे।

आनन्द चूँकि भगवान् के सबसे अधिक समीपी शिष्य थे, इसलिए उनके साथ-साथ उनको भी बहुत कुछ सुविधाएँ मिल सकती थीं। परन्तु हम देख चुके हैं कि आनन्द ने पहले ही भगवान् से यह शर्त ले ली थी कि वे उनके साथ कभी निमन्त्रण आदि में नहीं जाएंगे। इतना ही नहीं, आनन्द का जीवन छोटी-से-छोटी बातों में भी बड़ा जागरूक था। कोशलदेश का राजा प्रसेनजित् भगवान् का बड़ा भक्त था। आनन्द को भी वह बहुत मानता था। जब कभी आनन्द उससे मिलते तो यही कहता, "भन्ते ! आयुष्मान् आनन्द इस कालीन पर बैठें।" परन्तु आनन्द तो "नहीं महाराज ! आप बैठो। मैं अपने आसन पर बैठा हूँ"—

---

* बुद्धचर्या पृष्ठ ५५३-५४

कहकर भिक्षु-नियम के अनुसार ही आसन पर बैठते। एक बार तो आनन्द की तपस्या की भगवान् बुद्ध ने भी बड़ी प्रशंसा की। दुर्भिक्ष पड़ने के कारण एक बार भिक्षुओं को भिक्षा मिलने में दिक्कत होने लगी। कहीं घोड़ों के डेरों से वे कुछ चावल के दाने ले आते। उन्हें लाकर ओखल में कूट-कूटकर खाते थे। सिल पर पीस कर कुछ दाने आनन्द भगवान् को भी दे देते थे। भगवान् उन्हें खाते थे। भगवान् ने एक बार ओखल का शब्द सुना। तथागत ने पूछा, "आनन्द! यह ओखल का-सा शब्द क्या है?" आनन्द ने सब बात कह दी। "साधु! साधु! आनन्द! तुम सत्पुरुषों ने लोक को जीत लिया। आगे आने वाली जनता तो शालि-मांस-ओदन चाहेगी।"* अल्पेच्छता के इन्हीं आधारों पर बौद्ध संस्कृति की आधार-शिला रक्खी गई थी।

भगवान् बुद्ध के साथ आनन्द के इतने अधिक संलाप हुए हैं कि अत्यन्त संक्षेप में भी उनका निर्देश करना बहुत कठिन है। सुत्त-पिटक के प्रथम चार निकायों में 'ऐसा मैंने सुना' (एवं मे सुतं) इस प्रकार जो पहली आवाज सुनाई देती है, वह आनन्द की ही है, ऐसा हमें जानना चाहिए। कहा जाता है कि ८२००० धर्मोपदेश आनन्द ने स्वयं भगवान् से सुने थे और २००० अन्य शिष्यों से।† इन सबका संग्रह आज हम सुत्त-पिटक के रूप में देखते हैं, जिसके लिए हमें आनन्द का ही कृतज्ञ होना चाहिए। निरोध, लोक, शून्य, वेदना, ऋद्धि और प्राणायाम आदि महत्त्वपूर्ण दार्शनिक विषयों पर भगवान् बुद्ध और आनन्द के प्रश्नोत्तर संयुक्त-निकाय में निहित हैं।

भगवान् का यह स्वभाव था कि कभी-कभी जान-बूझकर वे अपने भाषण को संक्षिप्त कर देते थे, ताकि आनन्द आदि विज्ञ भिक्षुओं को

---

* देखिए बुद्ध-चर्या, पृष्ठ १४१

† देखिए थेरगाथा १०२४ (उत्तम भिक्षु द्वारा प्रकाशित नागरी संस्करण)

उसकी विस्तार से व्याख्या करने का अवसर मिले। कभी-कभी भगवान् के प्रवचन को सुनकर स्वयं भिक्षु ही माँग करने लगते थे कि आनन्द उसे विस्तृत रूप से समझावें। ऐसे अवसरों पर आनन्द अपने शास्ता के सम्मुख ही धर्म-प्रवचन करते थे और उनका अनुमोदन प्राप्त करते थे। एक बार शाक्यों को उपदेश करते हुए भगवान् को बहुत रात बीत गई तो उन्होंने स्वयं आराम करने की इच्छा से आनन्द को ही उस प्रवचन को आगे चलाने का आदेश दिया। कभी-कभी वैसे ही भगवान् बुद्ध आनन्द को किसी विशेष विषय पर बोलने के लिए कह देते थे। अच्छरियब्भुतधम्म-सुत्त का उपदेश आनन्द ने इसी प्रकार दिया है। कभी-कभी भगवान् अपने पहले ही दिये हुए उपदेश की पुनरावृत्ति अपने शिष्यों से परीक्षा-स्वरूप कराते थे। आनन्द ने एक ऐसे ही उपदेश की पुनरावृत्ति की है। उनका नाम 'भद्देकरत्त-सुत्त' है। भद्देकरत्त का अर्थ है भद्रैकरक्त, अर्थात् एकान्ततः भद्र, कल्याण में लगा हुआ। ऐसे ही पुरुष के लक्षण इस उपदेश में बताये गये हैं: "अतीत का अनुगमन (पछतावा) न करे, भविष्य की भी चिन्ता में न पड़े। जो अतीत है वह तो नष्ट हो गया और भविष्य अभी आ नहीं पाया। वर्तमान को ही जहां-तहां देखे। जो असंहारी, न टलने वाला है, उसे विद्वान् बढ़ावे। आज ही कर्तव्य में जुट जाना चाहिए, कौन जानता है कल मरण हो। बड़ी सेना वाले मृत्यु से युद्ध करते हमारा कोई निश्चय नहीं है। रात-दिन निरालस, उद्योगी हो। इस प्रकार विहरने वाले को ही शान्त मुनि-जन भद्रैकरक्त कहते हैं।"* इस उपदेश को जब आनन्द ने दुबारा कहा तो इसका नाम ही 'आनन्द-भद्देकरत्त-सुत्तन्त' हो गया। आनन्द तत्कालीन परिव्राजकों को किस प्रकार बुद्ध-मत में लाने में दक्ष थे, यह सन्दक-सुत्त से भली प्रकार जाना जा सकता है। हां, कभी-कभी जब उनसे ही कोई ऐसा

---

* राहुल सांकृत्यायन का अनुवाद।

प्रश्न पूछ बैठना जिसके विषय में वे निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकते थे तो उस कठिनाई को लेकर अपने शास्ता के पास जाते थे और उनसे उसे सुलझवाते थे।

भगवान् की ओर से आनन्द को स्वतन्त्रता थी कि वे जो चाहें प्रश्न पूछें। इसका पूरा लाभ आनन्द ने उठाया। उनका मन बच्चों की तरह जिज्ञासामय था। जब कभी भगवान् को मुस्कराते भी देखते तो झट पूछ उठते, "भन्ते! क्या हेतु है भगवान् के स्मित प्रकट करने का? भन्ते! तथागत बिना कारण के स्मित प्रकट नहीं किया करते।" इसी प्रकार तथागत यदि मौन रहते तो उनका भी कारण आनन्द को बताना ही पड़ता। एक बार आनन्द पीछे खड़े हुए भगवान् को पंखा झल रहे थे। भगवान् ने उन्हें एक ओर हटने को कहा। इसका भी कारण उन्हें आनन्द को बताना पड़ा। इस प्रकार अनेक मनोरंजक प्रसङ्ग हैं जो उस समय की स्मृति को आज भी हमारे लिए जीवित बनाते हैं। आनन्द के उपदेशों का स्वरूप और गाम्भीर्य जानने के लिए हमें विशेषतया सेखसुत्त (मज्झिम २।१।३) बाहितिय सुत्त (मज्झिम २।४।८) आनञ्ज-सप्पाय सुत्त (मज्झिम ३।१।६) गोपकमोग्गल्लान-सुत्त (मज्झिम ३।१।८) चूल सुञ्जता-सुत्त (मज्झिम ३।२।१) महासुञ्जता-सुत्त (मज्झिम ३।२।२) अच्छरियब्भुत धम्मसुत्त (मज्झिम ३।३।३) आनन्द-भद्देकरत्तसुत्त (मज्झिम ३।४।२) महानिदानसुत्त (दीघ. २।२) महा-परिनिब्बाण सुत्त (दीघ. २।३) तथा सुभ-सुत्त (दीघ. १।१०) देखने चाहिएं।

भगवान् बुद्ध के अन्तिम दिनों में हम उनके प्रति आनन्द के प्रेम और सेवा-भाव के प्रकर्ष को देखते हैं। भगवान् को बड़ी बीमारी हुई। मनोबल से व्याधि को हटाकर वे स्वस्थ हो गये। आनन्द की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा, "भन्ते! भगवान् को सुखी देखा। भन्ते! मैंने भगवान् को अच्छा हुआ देखा। भन्ते! मेरा

शरीर शून्य हो गया था। मुझे दिशाएं भी सूझ न पड़ती थीं। भगवान् की बीमारी में मुझे पदार्थ भी भान नहीं होते थे। भन्ते! कुछ आश्वासन-मात्र रह गया था कि भगवान् तबतक परिनिर्वाण प्राप्त नहीं करेंगे, जब-तक भिक्षु-संघ से कुछ कह न लेंगे!" लगातार एक स्थान से दूसरे स्थान को भगवान् के पात्र और चीवर लिये हुए आनन्द घूमते हैं और भगवान् की अस्वस्थता की हालत में वे स्वयं भी अस्वस्थ-से हो गये हैं। अनेक प्रकार के विषयों पर इस समय उनका भगवान् से वार्तालाप होता है, पर आशङ्का उन्हें हर समय यही लगी रहती है कि शास्ता 'जीवन-शक्ति छोड़ने वाले हैं। बच्चों के-से भोलेपन के साथ आनन्द शास्ता से अनुनय करते हैं, "भन्ते! भगवान् बहुजन-हितार्थ, बहुजन-सुखार्थ, लोकानुकम्पार्थ, देव-मनुष्यों के अर्थ, हित और सुख के लिए कल्प-भर ठहरें।" तीन बार आनन्द भगवान् से अभी शरीर न छोड़ने के लिये प्रार्थना करते हैं। लेकिन भगवान् आनन्द के मोह को दबाते हुए यही कहते हैं "आनन्द! क्या तुम्हें तथागत की बोधि पर विश्वास है?"†

"हां भन्ते!"

"तो आनन्द! क्यों तीन बार तथागत को दबाते हो?" आनन्द विवश होकर मौन हो जाते हैं। भगवान् ने प्रकट कर दिया कि थोड़े ही समय में तथागत का परिनिर्वाण होगा। "मेरा आयु परिपक्व हो गया, मेरा जीवन थोड़ा है। तुम्हें छोड़ कर जाऊंगा, मैंने अपने करने योग्य काम को कर लिया।" वैशाली का अन्तिम बार दर्शन कर तथागत कुसीनारा की ओर चल दिए। आनन्द को यह पसन्द नहीं आया कि भगवान् कुसीनारा जैसे अज्ञात, अप्रसिद्ध स्थान में परिनिर्वाण प्राप्त करें। बोले, "भन्ते! आप इस छोटे'से जंगली और झाड़-झंखाड़ वाले नगले में कृपया परिनिर्वाण

---

† सद्दहसि त्वं आनन्द तथागतस्स बोधि 'ति। महापरिनिब्बाण-सुत्त।

प्राप्त न करें। आपके परिनिर्वाण प्राप्त करने योग्य और भी बड़े-बड़े शहर हैं—चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी और वाराणसी। वहां आपके अनेक महाधनी क्षत्रिय, ब्राह्मण और वैश्य शिष्य हैं। वे तथागत के भक्त हैं और तथागत के शरीर की पूजा करेंगे।" आनन्द ने यह कह कर अपने भोले स्वभाव और भगवान् के प्रति अनन्य प्रेम को तो दिखा दिया; परन्तु तथागत को तो वही करना था जो उन्होंने सोच रक्खा था। भगवान् का परिनिर्वाण होने को है, परन्तु आनन्द उनकी बगल में नहीं हैं। भावुक आनन्द में इतना धैर्य कहां? आनन्द विहार के भीतर जाकर खूंटी पकड़ कर फूट-फूट कर रो रहे हैं, "हाय! जो मेरे अनुकम्पक शास्ता हैं, उनका परिनिर्वाण हो रहा है और मैं आज तक शैक्ष्य (अ-मुक्त) ही बना हुआ हूं।" भगवान् ने भिक्षुओं को आमन्त्रित किया, "भिक्षुओ! आनन्द कहां है?"

"भन्ते! आयुष्मान् आनन्द विहार में खूंटी पकड़ कर खड़े रोते हैं।"

"आ भिक्षु! मेरे वचन से तू आनन्द को कह, आवुस आनन्द! शास्ता तुम्हें बुला रहे हैं।"

"अच्छा भन्ते!"

रोते हुए आनन्द को देखकर भगवान् ने कहा, "आनन्द! रोओ मत। शोक मत करो। मैंने तो पहले ही कह दिया है—सभी प्रियों से वियोग होना है। 'हाय! वह नाश न हो!' यह सम्भव नहीं। आनन्द! तूने चिरकाल तक मैत्रीपूर्ण कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म से तथागत की सेवा की है। तूने बहुत पुण्य कमाया है। तू निर्वाण-साधना में लग, शीघ्र ही मुक्त होगा।" यह आशीर्वाद देकर भगवान् ने आनन्द के गुणों की प्रशंसा की, "भिक्षुओ! यदि भिक्षु-परिषद् आनन्द का दर्शन करने जाती है तो दर्शन से सन्तुष्ट हो जाती है। यदि आनन्द धर्म पर भाषण करता है तो भाषण से भी

सन्तुष्ट हो जाती है। भिक्षुओ! भिक्षु-परिषद् अतृप्त ही रहती है जबकि आनन्द चुप हो जाता है।" आनन्द और अन्य भिक्षुओं को आवश्यक अन्तिम उपदेश देकर शास्ता ने निर्वाण प्राप्त किया, लोकनेत्र अन्तर्धान हो गए।

शास्ता के महापरिनिर्वाण के बाद भी आनन्द बहुत दिनों तक जीवित रहे। भगवान् के पात्र और चीवर लिये यह विरक्त भिक्षु किस करुणा को लेकर इधर-उधर उपदेश करता हुआ घूमता था, यह हम आज कैसे जान सकते हैं? पालि-त्रिपिटक में तो आनन्द के परिनिर्वाण का कोई वर्णन ही नहीं है। फाहियान ने एक पूर्व-परम्परा के अनुसार कहा है कि आनन्द का परिनिर्वाण रोहिणी नदी की धारा में तेजोकसिन (तेजः कृत्स्न) ध्यान के द्वारा हुआ जिसमें उनका सारा शरीर तेजमय होकर अपने आप जल उठा और अवशिष्ट अंशों को मगध के अजातशत्रु और वैशाली के क्षत्रियों ने, जो नदी के दोनों किनारों पर खड़े हुए थे, आपस में बांट लिया और उन पर चैत्य बनवाए।

यह एक स्मरणीय बात है कि आनन्द प्रव्रजित तो भगवान् बुद्ध के बुद्धत्व-प्राप्ति के दूसरे वर्ष में ही हो गए थे और फिर उसके १८ या १९ वर्ष बाद वे भगवान् के नियत शरीर-सेवक भी हो गए जो वह ठीक पच्चीस वर्ष तक अर्थात् शास्ता के अन्तिम काल तक बने रहे। इस प्रकार शास्ता के महापरिनिर्वाण काल तक वे ४० वर्ष से अधिक समय तक बौद्ध संघ में रहे। यह एक आश्चर्य का विषय है और निश्चय ही बौद्ध स्थविरों ने स्पष्टता-पूर्वक इसे दिखाकर एक बड़ा अद्भुत कार्य किया है कि इतने साल तक बुद्ध की सेवा में रहने के उपरान्त भी आनन्द अर्हत्-अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाये जबकि भगवान् बुद्ध के अन्य अनेक शिष्यों ने इस अवस्था को प्राप्त कर लिया था। भगवान् के परिनिर्वाण के समय हमने आनन्द को इस बात के लिए शोक करते हुए भी देखा है।

'थेरगाथा' में हमें आनन्द की एक ऐसी ही विलख के दर्शन होते हैं। वे कहते हैं, "पच्चीस वर्ष तक मैंने भगवान् की सेवा की। कभी न छोड़ने वाली छाया की तरह मैं बड़े प्रेम से भगवान् की शारीरिक, वाचिक और मानसिक रूप से सेवा करता रहा। जहाँ कहीं बुद्ध गये, मैं उनके पीछे गया। आज मेरे अनुकम्पक शास्ता का निर्वाण हो रहा है और हाय! अभी मुझे करना ही बाकी है, सीखना ही बाकी है।"* पर अर्हत् न होते हुए भी इतने समय में आनन्द के हृदय में कोई बुरा विचार न आया था, काम-वासना कभी भी उत्पन्न न हुई थी; क्योंकि वे सदा शास्ता के साथ ही रहे थे। अर्हत् न होने का अभाव आनन्द को निश्चय ही बहुत खल रहा था। उनके अनेक गुरु-भाई भी इसके लिए उन्हें ताना मारते थे। इसी समय भगवान् के परि-निर्वाण के बाद उनके उपदेशों का संग्रह करने और उन्हें व्यवस्थित रूप देने के लिए एक बड़ी सभा (संगीति) होने जा रही थी, जिस में ५०० भिक्षु भाग लेने वाले थे और जिनके अध्यक्ष स्थविर महाकाश्यप थे। एक स्थान आनन्द के लिए भी खाली रक्खा गया था। जिस दिन सभा आरम्भ होने जा रही थी उसकी पहली रात को बहुत देर तक काय-गता-स्मृति का ध्यान कर रात के अन्तिम याम में आनन्द अर्हत्व-फल में प्रतिष्ठित हो गए। उनका चित्त मलों से सदा के लिए दूर हो गया, मुक्त हो गया। चित्त-मलों से पूर्णतः मुक्त होकर ही आनन्द ने सभा में महा-काश्यप के आदेश से धर्म (सुत्त-पिटक) का संगायन किया, जो आज हमें उपलब्ध है। यदि आनन्द ने यह कार्य न किया होता तो [illegible] स्वर वाले बुद्ध के वे शब्द, आज न जाने किस शून्य आकाश में विलीन हो गये होते, यह कौन जान सकता है ? जिसने बुद्ध-उपदेशों से बुद्ध पाया है, वह आनन्द की कृतज्ञता-अनुस्मृति किये बिना नहीं रह सकता।

ऊपर हम भगवान् बुद्ध के साथ आनन्द के सम्बन्ध का कुछ

---

* थेरगाथा, गाथाएं १०४१-४५

दिग्दर्शन कर चुके हैं। हमें यह भी देखना चाहिए कि भिक्षु-संघ के अन्य सदस्यों के साथ आनन्द का बर्ताव कैसा था। भिक्षु-संघ मे सारिपुत्र उनके सबसे घनिष्ठ साथी थे। अपनी कठिनताओं में आनन्द उनसे अक्सर परामर्श लिया करते थे। निर्वाण और समाधि आदि विषयों पर अनेक बार आनन्द ने सारिपुत्र का मार्ग-दर्शन चाहा, जिसे सारिपुत्र ने प्रसन्नतापूर्वक दिया। आनन्द सारिपुत्र का आदर करते थे; क्योंकि सारिपुत्र भगवान् के ज्ञानी शिष्यों मे सबसे प्रधान थे। सारिपुत्र आनन्द से प्रेम करते थे; क्योकि उनके हृदय में भगवान् की सेवा करने की जो इच्छा थी उसको क्रियात्मक रूप मे पूरी करते हुए वे आनन्द को देखते थे। अनेक बार हम सारिपुत्र को आनन्द का स्वागत करते पाते हैं। एक बार आनन्द को किसी ब्राह्मण ने एक सुन्दर कीमती वस्त्र भेंट किया। आनन्द ने सारिपुत्र को देना चाहा, किन्तु चूँकि सारिपुत्र उस समय वहां नहीं थे, इसलिए जब तक सारिपुत्र लौटकर न आये तब तक भगवान् ने उस वस्त्र को आनन्द को ही रखने की आज्ञा दी। सारिपुत्र के निधन पर आनन्द की जो विकल अवस्था हुई थी उसका कुछ निदर्शन उनके ये शब्द करते हैं, "दिशाएँ मुझे दिखाई नहीं देतीं, पदार्थ मुझसे पहचाने नहीं जाते। उस कल्याणकारी मित्र के चले जाने पर मुझे चारों ओर अँधेरा ही अँधेरा दिखाई देता है।"* हृदय के तो वे इतने कच्चे थे कि इस अशुभ समाचार को शास्ता को सुनाने के लिए अकेले जाने की उनकी हिम्मत ही नहीं हुई। वे सारिपुत्र के छोटे भाई चुन्द समणुदेस के साथ शास्ता के पास इस दुःसंवाद को सुनाने के लिए गए। सारिपुत्र के अलावा आनन्द की घनिष्ठता विशेषतः महामौद्गल्यायन, महाकाश्यप, अनिरुद्ध और कांक्षा रेवत भिक्षुओं से थी। महाकाश्यप का आनन्द बहुत आदर करते थे। एक बार किसी उपसम्पदा-संस्कार में आनन्द को शामिल होना था जिसमें

* थेरगाथा, गाथा १०३४

नियमानुसार उन्हें 'महाकाश्यप' शब्द का उच्चारण करना पड़ता। आनन्द ने स्थविर महाकाश्यप के प्रति यह सम्मानसूचक न समझा और उपसम्पदा-संस्कार में भाग न लिया। अपने से बड़े भिक्षु के साथ उनकी सम्मान-भावना इस हद तक बढ़ी हुई थी। एक बार तो महाकाश्यप ने आनन्द को फटकार भी दिया। आनन्द के साथ रहने वाले कुछ नये प्रविष्ट भिक्षु अनुशासन के विपरीत आचरण कर रहे थे। महाकाश्यप को यह पसन्द न आया और इसके लिए उन्होंने आनन्द को आड़े हाथों लिया। महाकाश्यप ने कहा, "आवुस आनन्द! तुम क्यों इन अजितेंद्रिय, जागरण में तत्पर न रहने वाले, नये भिक्षुओं के साथ रहते हो? मानो तुम सस्यों का घात कर रहे हो। मानो तुम कुलों का घात कर रहे हो। तुम सस्यों का घात करते चलते हो। कुलों का घात करते चलते हो। आवुस आनन्द! तुम्हारी भिक्षु-मंडली भंग हो रही है, अधिकतर नये भिक्षुओं वाली तुम्हारी मंडली टूट रही है।" इतना कहकर महाकाश्यप ने आनन्द के प्रति यह भी कह दिया, "यह बालक (कुमार) सीमा नहीं जानता।" आनन्द तो भिक्षु-संघ में रहते-रहते बुड्ढे हो गए थे। यह कहा जाना इनके लिए बहुत था। फिर भी वे अत्यन्त विनम्रता के साथ बोले, "भन्ते काश्यप! मेरे सिर के बाल सफेद हो गए। तो भी मैं आयुष्मान् महाकाश्यप के बालक (कुमार) कहने से नहीं छूट रहा हूँ।" महाकाश्यप की तीव्र वाणी को आनन्द तो झेल गए, परन्तु पास खड़ी थुल्लनन्दा नाम की भिक्षुणी को सह्य नहीं हुआ। उसने कहा, "दूसरे सम्प्रदाय में पहले रहे हुए आर्य महाकाश्यप, वैदेह मुनि आर्य आनन्द को बालक कहकर फटकारने की हिम्मत कैसे कर सकते हैं?" विनयी और कोमल-हृदय आनन्द ने थुल्लनन्दा के वचनों के लिए महाकाश्यप से क्षमा मांगी। इसी प्रकार एक दूसरे अवसर पर महाकाश्यप आनन्द की उपस्थिति में भिक्षुणी-संघ में उपदेश दे रहे हैं। उपदेश समाप्त होने पर थुल्लतिस्सा नाम की भिक्षुणी कुछ अविनय के साथ एक प्रसंग में कहने लगी,

प्रिय बनाती हैं। इसी प्रसङ्ग में हमें दो-एक बातें और कहनी हैं। आनन्द एक बार कहीं चले जा रहे थे। रास्ते में उन्हें प्यास लगी। पास में एक कुएं पर एक चाण्डाल-कन्या पानी भर रही थी। आनन्द ने उसके पास जाकर भिक्षु-रीति से पानी माँगा। लड़की जानती थी कि जाति-प्रथा के अनुसार उसके हाथ का जल एक ऊंची जाति का व्यक्ति कैसे पी सकता था? सहमती हुई बोली, "भगवन्! मैं तो चाण्डाल कन्या हूं! मैं आपको जल कैसे दूं?"

"भगिनि! मैंने तुझसे जाति तो माँगी नहीं है। मैंने तो तुझसे पानी माँगा है।"

आनन्द को पानी पिला कर वह चाण्डाल-कन्या सदा के लिए अमर होगई। आनन्द की एक प्रधान दिन-चर्या रोगी-शुश्रूषा थी। दोपहर के समय जब भगवान् कुछ विश्राम लेते थे, आनन्द का समय रोगियों की सेवा करने और उनसे बातें करने में बीतता था। यह उनका प्रतिदिन का क्रम था। रोगियों को देखने और उन्हें सान्त्वना देने के लिए भी आनन्द जाया करते थे। एक बार गिरिमानन्द नामक रोग को देखने और सान्त्वना देने के लिए भगवान् ने उन्हें भेजा था। एक बार जब अनाथ-पिण्डिक बीमार था तो उसने भी आनन्द को बुलवाया था। इसी प्रकार सिरिवड्ढ और मानदिन्न नामक रोगी व्यक्तियों की भी आनन्द ने बड़ी सेवा की थी। एक रोगी भिक्षु की सेवा तो आनन्द ने अपने शास्ता के साथ मिलकर ही की। एक भिक्षु को पेट की कड़ी बीमारी थी। वह अपने पेशाब-पाखाने में पड़ा हुआ था। भगवान् आनन्द को साथ लेकर वहाँ पहुंचे। पूछा, "भिक्षु! तुझे क्या रोग है?"

"पेट की बीमारी है, भन्ते!"

"भिक्षु, तेरा कोई परिचारक भी है?"

"नहीं, भन्ते!"

भगवान् ने आनन्द से कहा, "जा आनन्द! पानी ला! इस भिक्षु को नहलायेंगे।" आनन्द पानी लाए। भगवान् ने पानी डाला, आनन्द

ने धोया। भगवान् ने सिर की तरफ़ से पकड़ा, आनन्द ने पैर की तरफ़ से। उठाकर चारपाई पर लिटाया। भगवान् ने भिक्षुओं को सम्बोधित किया, "भिक्षुओ! तुम्हारी माता नहीं, पिता नहीं, जो तुम्हारी सेवा करेंगे। यदि तुम एक-दूसरे की सेवा न करोगे तो कौन सेवा करेगा? भिक्षुओ! जो रोगी की सेवा करता है, वह मेरी ही सेवा करता है।" ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि रोगी-सेवा बुद्ध-शासन-साधना का एक प्रधान अङ्ग था। सारिपुत्र की कुष्ठ-पीड़ित की सेवा का निदर्शन हम अन्यत्र कर ही चुके हैं। भगवान् की उपासिका शिष्याओं में सुप्रिया नाम की महिला रोगी-शुश्रूषिकाओं में प्रधान थी। आनन्द यद्यपि पूर्ण विरक्त थे, तथापि मनुष्यता उनके हृदय की सबसे बड़ी विशेषता थी। एक बार एक निर्धन व्यक्ति के परिवार में केवल दो छोटे-छोटे बच्चे रह गए थे। आनन्द ने शास्ता की आज्ञा से संघ में लाकर उनका पालन किया। विरक्ति ने बौद्ध भिक्षुओं को सेवा के मार्ग से नहीं हटाया था, क्योंकि वह उन्हें 'स्व-धर्म' के रूप में ही प्राप्त था।

उपनिषदों के ऋषि साधना के क्षेत्र में स्त्रियों की समानता के बड़े पक्षपाती थे। योगवासिष्ठकार ने तो इस विषय में स्त्रियों को बिलकुल पीछे नहीं माना है। पर सामाजिक आन्दोलन के रूप में स्त्री के तेज को सबसे पहला प्रकर्ष भगवान् बुद्ध से ही मिला। आनन्द तो इस विषय में अपने शास्ता से भी बढ़े हुए थे, ऐसा कहने में भी कोई अत्युक्ति नहीं है। महाप्रजापती गोतमी (भगवान् की मौसी) ने भगवान् से प्रव्रज्या ग्रहण करने की अनुमति माँगी। तीन बार उसने प्रार्थना की, किन्तु तीनों बार भगवान् ने इन्कार कर दिया। बेचारी घबराती हुई आनन्द के पास गई और सहायता के लिए प्रार्थना करने लगी। पहली बार तो आनन्द का भी प्रयत्न बेकार गया; क्योंकि शास्ता ने कहा, "आनन्द! तुझे यह रुचिकर नहीं होना चाहिए कि तथागत के द्वारा साक्षात्कार किये हुए धर्म में स्त्रियां भी घर से बेघर

हो प्रव्रज्या ग्रहण करें।" परन्तु आनन्द इस प्रकार कब मानने वाले थे! दूसरे ढंग से उन्होंने काम लिया। कहा, "भन्ते! क्या तथागत-प्रवेदित-धर्म में स्त्रियां स्रोत-आपत्तिफल, सकृदागामि-फल, अनागामि-फल और अर्हत्त्वफल को साक्षात्कार कर सकती हैं?"

"साक्षात् कर सकती हैं आनन्द!"

फिर क्या था, भगवान् को प्रजापती गोतमी की प्रव्रज्या के लिए अनुज्ञा देने के लिए बाध्य होना पड़ा! भिक्षुणी-संघ की स्थापना आनन्द के प्रयत्न से ही हुई। भगवान् सिद्धान्ततः तो मानते थे कि स्त्रियां भी पुरुषों के समान ही ज्ञान-लाभ कर सकती हैं; परन्तु सामाजिक रूप से इसका आन्दोलन चलाने में उन्हें झिझक अवश्य थी। आनन्द ने उन्हे इस कार्य के लिए उत्साहित कर लिया; परन्तु फिर भी शास्ता शिष्य से बड़े थे। भगवान् ने भविष्यवाणी की कि स्त्रियों के संघ में प्रवेश पा जाने के कारण अब उनका धर्म-विनय ५०० वर्ष से अधिक नहीं चलेगा, जबकि उनकी अनुपस्थिति में वह १००० वर्ष भी चलता। अध्यात्म-साधना में स्त्रियों की समानता के पक्षपाती होते हुए भी भगवान् स्त्री-पुरुषों के अधिक सम्पर्क के, फिर चाहे वह शुद्ध भावना से ही क्यों न हो, पक्षपाती नहीं थे। स्वयं स्त्रियों के पक्षपाती आनन्द ने जब ८० वर्ष के पक्के अनुभव वाले मरणासन्न तथागत बुद्ध से पूछा, "भन्ते! स्त्रियों के साथ हम कैसा बर्ताव करेंगे",* तो उन्होंने यही कहा 'अदर्शन' अर्थात् न देखना।†

सुधारक आनन्द ने जब आगे पूछा, "दर्शन होने पर भगवान् क्या करें?"‡ तो भगवान् ने कहा, "बात न करना, आनन्द!"$

---

* कथं मयं भन्ते मातुगामे पटिपज्जामा'ति?

† अदस्सनं आनन्दा ति'!

‡ दस्सने भगवा सति कथं पटिपज्जितब्बं' ति

$ अनालापो आनन्दा' ति!

'घात भी करनी पड़े तो ?'*

"होश को संभाले रखना।†

स्त्री-जाति के बड़े हिमायती होने के कारण आनन्द का भिक्षुणी-संघ में विशेष आदर था। सम्भवतः इस विषय में आनन्द भिक्षु-संघ में अद्वितीय थे। ऊपर हम देख ही चुके हैं कि किस प्रकार थुल्लनन्दा और थुल्लतिस्सा भिक्षुणियां अपने 'आर्य आनन्द' का अपमान देखकर क्षुब्ध हो उठी थीं। उदयन की रानियों की आनन्द के लिए ५०० चादरों की भेंट के विषय में हम पहले लिख ही चुके हैं। प्रसेनजित् के महलों से भी आनन्द को इसी प्रकार भेंटें मिली थीं। प्रसेनजित् की रानी मल्लिका और वासभ क्षत्रिया को तो आनन्द नियमित रूप से उपदेश करने जाते थे। एक बार महल की रानियों से पूछा गया कि वे भगवान् के ८० प्रधान भिक्षु-शिष्यों में से किसका प्रवचन सुनना पसन्द करेंगी ? उन्होंने सर्वसम्मति से आनन्द को ही चुना। निश्चय ही भिक्षुणी-संघ में आनन्द बहुत ही प्रेम और आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। कहा जाता है कि जब स्थविर आनन्द उपदेश करते थे तो स्त्रियां उन्हें घेर कर बैठ जाती थीं और बड़ी श्रद्धा से उन पर पंखा करती थीं। स्त्रियों के बीच अपने को स्त्री अनुभव करने की कला शायद आनन्द को अच्छी तरह आती थी।

भगवान् ने आनन्द को गतिवानों में श्रेष्ठ कहा। 'गतिवान्' का अर्थ धम्मपाल (त्रिपिटक के कुछ ग्रन्थों के एक पाँचवीं शताब्दी ईस्वी के टीकाकार) ने चलने वाला किया है, परन्तु हम यहां एक और विशेष अर्थ भी ले सकते हैं। आनन्द गतिशील भिक्षुओं में अग्रणी थे। स्त्रियों की स्थिति के विषय में वे अपने युग से बहुत आगे थे। एक बार उन्होंने भगवान् से यहां तक पूछा था कि स्त्रियां आस्थान-अगडपो

---

* आलपन्तेन पन भन्ते कथं पटिपज्जितब्बं ति ?

† सति आनन्द उपट्ठापेतब्बा ति।

(विधान निर्मात्री सभाओं) में क्यों नहीं बैठतीं और उन्हें अपने परिश्रम का पूरा मूल्य क्यों नहीं मिलता ? हम जानते हैं कि ये समस्याएँ आज भी हमारे समाज को उद्वेलित कर रही हैं। इसी से हम जान सकते हैं कि इस विषय में आनन्द अपने युग से कितने आगे थे। इस अपनी गतिवत्ता के लिए उन्हें कुछ मूल्य भी चुकाना पड़ा, यद्यपि हम जानते हैं कि वह मूल्य बहुत कम था, क्योंकि बौद्ध संघ में शुरू से ही स्वतन्त्र विचार के प्रकाशन और विकास के लिए पर्याप्त अवकाश था। प्रथम बौद्ध सङ्गीति में ही स्थविरों ने आनन्द पर कुछ आरोप लगाए, जो इस प्रकार थे : (१) क्षुद्र-अनुक्षुद्र शिक्षापदों के विषय मे भगवान् से क्यों नहीं तुमने पूछा ? (२) भगवान् के कपड़े को सीते समय उस पर पैर क्यों रक्खे ? (३) प्रथम बार भगवान् के शरीर की स्त्री से क्यों वंदना करवाई ? (४) भगवान् से कल्पभर ठहरने की प्रार्थना क्यों नहीं की ? और (५) तथागत के धर्म-विनय में स्त्रियों की प्रव्रज्या के लिए उत्सुकता क्यों पैदा की ? स्पष्टतः इन आरोपों में दो आनन्द की स्त्री-जाति सम्बन्धी उदारता के सम्बन्ध में थे। आनन्द स्वतन्त्र विचारक थे। उन्होंने निर्भीकतापूर्वक कहा कि इन पांचों बातों में से वे किसी में भी कोई दोष नहीं देखते; किन्तु फिर भी संघ का आदर करते हुए विनयी आनन्द ने उनके लिए क्षमा-याचना की। संघ फिर भी व्यक्ति से बड़ा था।

आनन्द के किस-किस गुण की हम आज याद करें। हमें तो आज उनके विषय में उसी एक तथ्य से विशेष आश्वासन मिलता है, जिसे उनके साथी उनमें बहुत काल तक एक अभाव मानते थे। आनन्द बहुत काल तक सम्यक् सम्बुद्ध के साथ रहे; परन्तु उनके जीवन की समाप्ति तक भी उनको परमज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई ! ज्ञानियों के समीप रहने से ही सब कुछ नहीं हो जाता ! बहुत कुछ अपने पुरुषार्थ पर ही निर्भर करता है। जब आनन्द ने अदम्य पुरुषार्थ आरम्भ किया तो अर्हत् होते देर न लगी। आज सम्यक् सम्बुद्ध लोक में नहीं हैं, पर पुरुषार्थ

के आश्रय से हम जीते हैं। जो कुछ मनुष्य के पुरुषार्थ से लभ्य है, उसके लिए यत्न करते हैं। गतिवानों में श्रेष्ठ आनन्द! गतिवान् तो आज हम भी हैं, किन्तु कहां जाना है, इसका दर्शन हमें नहीं। यदि गतिशीलता हो, किन्तु संयम-साधना में प्रमाद नहीं; विरक्ति हो, किन्तु सेवा-धर्म में कमी नहीं; उचित स्वाभिमान हो, किन्तु विनय का अभाव नहीं; सच्चे अर्थों में क्षात्र-धर्म की अनुभूति हो, किन्तु शस्त्र-ग्रहण नहीं, तो आज भी भिक्षुपद के साक्षात्कार करने में क्या देर है? आनन्द इसी संस्कृति के प्रतीक थे। ऐसा करते हुए हम आज भी भगवान् बुद्ध के 'अन्तिम पुरुष' नहीं बनते! पर आज हमें तो ठहरने का अवकाश कहां? हम उतावले हो रहे हैं। जो वास्तव में चंचलता है, उसे ही हम क्रियाशीलता मान बैठे हैं। हमें अपने लक्ष्य का पता नहीं। बिना चले तो हम बुद्ध-शासन को भी पूरा नहीं कर सकते। पर गति का लक्ष्य तो पहले से निर्धारित होना ही चाहिए। इसके लिए अ-ध्रुव से ऊपर उठकर ध्रुव की खोज की कुछ तो अपेक्षा है ही। जो अनित्य, दुःख और अनात्म है, उसे छोड़कर जो नित्य, आनन्द और आत्म-स्वरूप है, उसे साक्षात्कार करने की कुछ तो वांछा है ही। पर यह तो ध्यान, एकान्त चिन्तन और निरन्तर जागरूकता से ही सम्भव है। इसीलिए हे आनन्द! हम सायं-प्रातः, प्रतिक्षण, प्रति सांस के साथ, आपके प्रति दिये हुए भगवान् के उस सर्वोत्तम उपदेश-वाक्य को ही अपने जीवन में क्रियान्वित करना चाहते हैं, जिसे हम आपके साथ उनके संलाप का सर्वोत्तम रत्न मानते हैं—"आनन्द! यह सामने वृक्षों की छाया है। यह सूने घर हैं। आनन्द! ध्यान करो, प्रमाद मत करो। देखो, पीछे मत पछताना। यही हमारी अनुशासना है।"

: ६ :

अंगुलिमाल

भगवान् बुद्ध का व्यक्तित्व अनेक दृष्टियों से बड़ा महत्त्वपूर्ण था। शब्द की रेखाओं में उसकी सीमाएँ नहीं बांधी जा सकतीं। फिर भी उनके जीवन की एक बड़ी विशेषता, जो उनकी पाषाण-बद्ध मूर्तियों से भी आज बड़ी पुलकन के साथ निकलती दिखाई देती है, वह है उनके व्यक्तित्व में मैत्री-धर्म का पूर्ण प्रकाश, अ-परिमाण प्रीति का साक्षात् परिपूर्ण दर्शन। भगवान् बुद्ध के शिष्य होने के लिए यह आवश्यक शर्त थी, "भिक्षुओ! यदि चोर और डाकू दोनों ओर दस्ते वाले आरे से तुम्हारे एक-एक अंग को भी काटें, तो वहाँ पर भी जो अपने मन को दूषित करे,वह मेरे शासन के अनुकूल आचरण करने वाला नहीं है।"* अपने शिष्यों में इस हद तक अहिंसा की प्रतिष्ठा करना तथागत का एक बल था। इसी बल के किंचित् दर्शन हम अंगुलिमाल के जीवन-परिवर्तन में करते हैं।

अंगुलिमाल कोशल देश का एक प्रसिद्ध डाकू था। कहा जाता है कि उसने आदमियों को मार-मार कर उनकी उँगलियों की माला बनाकर अपने गले में पहन रक्खी थी। इसीलिए उसका नाम अंगुलिमाल पड़ गया था। वैसे उसका क्या नाम था, यह किसी को पता नहीं था। कोशल देश में उसने अपनी निर्दय हत्याओं से बड़ी तबाही मचादी थी। गाँव-के-गाँव उसके डर से खाली हो गए थे। अन्त में जनता ने दुःखी होकर राजा से प्रार्थना की। कोशल देश का राजा उस

---

* महाहत्थिपदोपम-सुत्त (मज्झिम १।३।८)

समय प्रसेनजित् था। परन्तु वह भी क्या करता? जगह-जगह उसने पुलिस की टुकड़ियाँ भिजवा दीं। पुलिस का प्रबन्ध उस समय था ही। परन्तु वह डाकू हाथ न आया। राजा प्रसेनजित् स्वयं भी घोड़े पर सवार होकर बहुत दौड़-धूप कर रहा था, परन्तु उसके भी हाथ अंगुलिमाल नहीं आया। अंगुलिमाल की माता जो कोशल देश की ही थी इन सब हलचलों को देख रही थी। उससे न रहा गया। अपने पुत्र की जान खतरे में देख वह चुपचाप उसे समझाने चली। इधर अंगुलिमाल ने यह व्रत ले लिया था कि वह १००० आदमियों को मारकर उनकी एक-एक अंगुली को इकट्ठा कर उन सबकी एक माला बनाकर पहनेगा। इनमें सिर्फ एक ही प्राणी की उँगली की कमी थी। इसी बीच उस नृशंस ने अपनी माता को दूर से आती हुई देखा। वह उसे मारने को दौड़ा। उसकी मातृ-प्रेम की भावना भी समाप्त हो चुकी थी।

इसी बीच भगवान् बुद्ध भी ३० योजन की दूरी से अंगुलिमाल को समझाने के लिए चल दिए कि वह इन दुष्कृत्यों को छोड़ दे। रास्ते में भगवान् को अनेक किसान, ग्वाले और राहगीर मिले, जिन्होंने उन्हें समझाया—"भन्ते! इस रास्ते से न जांय। इस रास्ते में एक निर्दय अंगुलिमाल नामक डाकू रहता है। उसने पूरे-के-पूरे ग्रामों, निगमों (कस्बों) और जन-पदों को मनुष्यों से खाली कर दिया है। वह मनुष्यों को मार-मार कर उनकी उँगलियों की माला पहनता है। इस मार्ग पर बीस-तीस तक आदमी इकट्ठा होकर जाते हैं तब भी वे अंगुलिमाल के हाथ में पड़ जाते हैं।" भगवान् मौन धारण कर आगे चलते ही गए।

जैसे ही अंगुलिमाल अपनी माँ को मारने के लिए दौड़ रहा था, भगवान् उसके बीच के रास्ते में जा खड़े हुए और लगे अंगुलिमाल की तरफ़ निर्भीकता-पूर्वक बढ़ने। अंगुलिमाल ने उन्हें देखकर तिरस्कार-पूर्वक कहा, "खड़ा रह, श्रमण!"

भगवान् ने उत्तर दिया—"मैं खड़ा हूँ अंगुलिमाल ! तू भी स्थित हो !" अंगुलिमाल को आश्चर्य हुआ कि यह श्रमण स्वयं तो चला आ रहा है और कहता है, "मैं स्थित हूँ।" साथ ही अंगुलिमाल को भगवान् की अन्तःस्थित मैत्री-भावना ने इस बीच कुछ-कुछ अभिभूत कर लिया। यदि मैत्री-भावना से स्वयं चित्त आप्लावित है, तो यह असम्भव है कि वह दूसरे को आप्लावित न कर सके। एक दम अंगुलिमाल नरमी के स्वर में पूछने लगा, "श्रमण ! तुम स्वयं चलते हुए कहते हो—'स्थित हूं', और मुझ खड़े हुए को कहते हो—तू स्थित हो। श्रमण ! मैं पूछता हूँ कि कैसे तुम स्थित हो और मैं कैसे स्थित नहीं हूँ ?"

"अंगुलिमाल ! सारे प्राणियों के प्रति वैर छोड़ देने के कारण मैं सदा स्थित हूँ। तू प्राणियों में असंयमी है,इसीलिए स्थित नहीं है।"* शब्द तो इतने भी बहुत थे। परन्तु वास्तविक कार्य तो शब्दों ने नहीं, बल्कि हृदय की अन्तर्भावित मैत्री की परिपक्व भावना ने ही किया, जिसके शब्द मौन होते हैं, किन्तु जो मनुष्यों के जीवन में क्रान्ति पैदा कर देने वाली सबसे बड़ी शक्ति है। इसी शक्ति का शिकार अंगुलिमाल भी होगया—"बहुत दिनों से मैंने महर्षि का पूजन नहीं किया। यह श्रमण मुझे महावन में मिल गया। मैं इसकी धर्म-युक्त गाथा को सुन कर चिरकाल के पाप को छोड़ूँगा।"

डाकू ने सुगत के पैरों की वन्दना की और तलवार और अन्य हथियार खोह, झरने और नालों में फैंक दिये। इसी समय उसने भगवान् से प्रव्रज्या भी मांगी। उसकी प्रार्थना स्वीकार करते हुए करुणामय महर्षि ने अंगुलिमाल से कहा, "आ भिक्षु ! यह धर्म सु-आख्यात है। अच्छी प्रकार दुःख के विनाश के लिए तू ब्रह्मचर्य का आचरण कर।" यही अंगुलिमाल की प्रव्रज्या हुई। जिसने

---

* अंगुलिमाल-सुत्त (मज्झिम० २।४।६)

अहिंसा के शंख से एक समय के लिए चारों दिशाओं को परिपूरित कर दिया, उस देव और मनुष्यों के अद्भुत शास्ता के लिए यह कार्य कुछ अधिक न था।

इधर भगवान् बुद्ध अंगुलिमाल को भिक्षु बनाकर अपने साथ लाये, उधर राजा प्रसेनजित् उसकी खोज में पाँच सौ घुड़सवारों को लिये हुए दौड़-धूप कर रहा था। अकस्मात् वह भगवान् बुद्ध के पास ही आ निकला। भगवान् ने पूछा, "क्यों महाराज! क्या तुझ पर राजा बिम्बिसार बिगड़ा है, या वैशाली के लिच्छवि, या दूसरे विरोधी राजा! क्यों इन सिपाहियों को लिये हुए तू इतनी दौड़-धूप कर रहा है?"

"भन्ते! न मुझ पर मगध-राज बिम्बिसार बिगड़ा है, न वैशाली के लिच्छवि, न दूसरे विरोधी राजा। भन्ते! मेरे राज्य में अंगुलिमाल नामक डाकू मुझे बड़ा तंग कर रहा है। मैं उसी को पकड़ने जा रहा हूं।"

"यदि महाराज! तू अंगुलिमाल को केश और दाढ़ी मुँड़ाये, गेरुए वस्त्र पहने, प्रव्रजित हुए, जीव-हिंसा-विरत, अपरिग्रही, झूठ से विरत, एक बार आहार करने वाले, ब्रह्मचारी, शीलवान् और धर्मात्मा के रूप में देखे तो उसका क्या करे?"

"भन्ते! मैं उसका उठकर स्वागत करूँगा, आसन के लिए निमन्त्रित करूँगा। वस्त्र, भोजन, निवास-स्थान, औषधि आदि के विषय में उससे पूछूँगा और धर्म से उसकी रक्षा करूँगा। पर भन्ते! उस दुराचारी पापी को ऐसा शील-संयम कहां होगा?" भगवान् ने अंगुलिमाल को जो उनके पास ही बैठे हुए थे, बांह से पकड़कर प्रसेनजित् के सामने करते हुए कहा—"महाराज! यह है अंगुलिमाल!" प्रसेनजित् को तो अंगुलिमाल का नाम सुनते ही कंपकंपी आ गई। निश्चय ही अंगुलिमाल इतना ही भयंकर डाकू था और बिना सम्यक् ज्ञान के डर तो कहाँ से छूटे? भगवान् ने प्रसेनजित् को धीरज दिया, "महाराज!

डरो मत। अब इससे तुम्हें भय नहीं करना चाहिए।" प्रसेनजित् का डर दूर हो गया। उसने अंगुलिमाल से पूछा—"आर्य अंगुलि-माल हैं?"

"हां, महाराज!"

"आर्य के पिता किस गोत्र के, माता किस गोत्र की?"

"महाराज! पिता आर्य गार्ग्य, माता मैत्रायणी।"

प्रसेनजित् ने सत्कार प्रदर्शित करते हुए कहा—"आर्य गार्ग्य मैत्रायणी-पुत्र आनन्द से रहें! मैं आर्य गार्ग्य मैत्रायणी-पुत्र की वस्त्र, भोजन, निवास-स्थान और ओषधि-उपचार आदि वस्तुओं से सेवा करूँगा।" परन्तु आर्य गार्ग्य मैत्रायणी-पुत्र (भूतपूर्व अंगुलि-माल) को तो अब क्या इच्छा रही थी? उन्होंने विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया, "महाराज! मेरे तीनों वस्त्र पूरे हैं।" प्रसेनजित् को भी क्षण भर के लिए अनुभव हुआ कि शस्त्र-बल से भी एक बल विशेष शक्ति-सम्पन्न है—"आश्चर्य भन्ते! अद्भुत भन्ते! कैसा है आपका अनोखा ढंग जिससे आप अ-दान्तों को दमन करते, अ-शान्तों को शमन करते और अ-मुक्तों को मुक्त करते हैं! जिनको हम दण्ड से भी, शस्त्र से भी, दमन न कर सके, उनको भन्ते! आपने बिना दण्ड के, बिना शस्त्र के, दमन कर दिया।"

भिक्षुपन की अवस्था में एक बार स्थविर अंगुलिमाल कहीं भिक्षा करने गए। वहां उन्होंने एक स्त्री को जिसके गर्भ में मृत शिशु था बड़े दुःख में चिल्लाते देखा। इससे उन्हें बड़ी करुणा आई। जिसने हजारों निरपराध व्यक्तियों को बिना एक बार 'आह' करते निर्दयता-पूर्वक मारा था, वह इस एक स्त्री के दुःख से जिससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं था, विकल हो उठा। करुणा का भी तो कितना प्रसारक प्रभाव होता है और अब तो अंगुलिमाल 'करुणा के देव' के साथ ही रहते थे। भिक्षा से लौटकर शास्ता से कहा, "भन्ते! मैं आज भिक्षा के लिए गया था। वहां मैंने एक स्त्री को बहुत दुःखी

देखा। मुझे विचार हुआ—"हाय! संसार में प्राणी कितना दुःख पा रहे हैं!"

"तो अंगुलिमाल! जहां वह स्त्री है वहां तू जा। जाकर उस स्त्री से कह—भगिनि! यदि मैंने जन्म से लेकर आज तक जानकर प्राणिवध नहीं किया, तो इस सत्य से तेरा मंगल हो, गर्भ का भी मंगल हो।"

"भन्ते! यह तो निश्चय ही मेरा जानकर झूठ बोलना होगा। भन्ते! मैंने तो जानकर बहुत से प्राणि-वध किये हैं।"

"अंगुलिमाल! तो तू उस स्त्री के पास जाकर यह कह—भगिनि! यदि मैंने आर्य-जन्म में पैदा होने* के समय से लेकर जानकर प्राणि-वध नहीं किया तो तेरा कल्याण हो, तेरे गर्भ का भी कल्याण हो।" अंगुलिमाल ने ऐसा ही किया और आश्चर्य कि उस स्त्री का प्रसव ठीक हो गया और उसका शिशु भी स्वस्थ उत्पन्न हुआ।

अंगुलिमाल यद्यपि भिक्षु हो गये और उन्होंने अपने जीवन को भी सम्यक् मार्ग पर लगा लिया, फिर भी प्रारम्भिक अवस्था में लोग उन पर संशय ही करते रहे। एक बार जब स्थविर अंगुलि-माल श्रावस्ती में भिक्षा के लिए गये तो कुछ लोगों ने उन पर ढेले आदि फेंके और उन्हें डंडों से बुरी तरह पीटा भी। सम्भवतः यह उनके स्वभाव-परिवर्तन की परीक्षा के लिये ही किया गया था। इससे उनके शरीर में बहुत चोट आई, खून बहने लगा और सिर भी फट गया, किन्तु प्रतिहिंसा की भावना तो अब कहां थी? स्थविर ने अपूर्व शान्ति के साथ अपने इधर-उधर बिखरे हुए पात्रों को समेटा और वहीं ध्यान में बैठ गए। तदुपरान्त स्थविर अंगुलि-माल इसे अपने कर्म का ही विपाक समझते हुए बड़े शान्त-भाव

* आर्य जन्म से तात्पर्य [illegible] [illegible]। इस [illegible] से
(यतो अहं [illegible] अरियाय जातिया जातो)।

से शास्ता के पास आए। शास्ता ने उनकी इस प्रशान्त-गम्भीरता को देखकर उन्हें अपने वास्तविक अर्थों में ही "ब्राह्मण" कह कर पुकारा और कहा—"ब्राह्मण! तूने स्वीकार कर लिया। ब्राह्मण! तू ने स्वीकार कर लिया। जिस कर्म-फल के लिए अनेक सौ वर्ष, अनेक हजार वर्ष, अधम योनियों में पचना पड़ता, उस कर्म-विपाक को ब्राह्मण, तू इसी जन्म में भोग रहा है।" स्थविर अंगुलिमाल ने ध्यानावस्थित होकर इसी समय विमुक्ति-सुख को अनुभव किया और वे अर्हत् हो गए, अर्थात् उन्होंने साक्षात्कार किया कि अब मेरा "जन्म क्षय हो गया, ब्रह्मचर्य-पालन समाप्त हो चुका, करना था सो कर लिया, अब कुछ और करने को नहीं है।"

"ब्राह्मण" अंगुलिमाल इन अमूल्य शब्दों में अपने जीवन-परिवर्तन की स्मृति को हमारे लिए छोड़ गये हैं :

"दिशाएँ मेरी धर्म-कथा को सुनें, दिशाएं बुद्ध-शासन में जुटें। दिशाएँ उन सन्त पुरुषों का सेवन करें जो धर्म के ही लिए प्रेरित करते हैं।

"दिशाएँ क्षान्तिवादियों के, मैत्री-प्रशंसकों के, धर्म को समय पर सुनें और उसके अनुसार चलें।

"वह मुझे या किसी दूसरे को नहीं मारेगा, वह परम शान्ति को पाकर स्थावर-जंगम की रक्षा करेगा।

"जैसे नाली वाले पानी ले जाते हैं, बाण वाले बाण को सीधा करते हैं, बढ़ई लकड़ी को सीधा करते हैं, वैसे ही पंडित अपने को संयमित करते हैं।

"कोई दण्ड से दमन करते हैं, कोई शस्त्र और कोड़े से भी; तथागत ने बिना दण्ड, बिना शस्त्र के ही मुझे संयमी बना दिया है।

"पहले का हिंसक, आज मेरा नाम अहिंसक है। आज मैं यथार्थ नाम वाला हूँ, किसी की हिंसा नहीं करता।

"पहले मैं अंगुलिमाल नाम से प्रसिद्ध डाकू था। बाद में

हृदय से बुद्ध की शरण आया।

"पहले मैं अंगुलिमाल नाम से प्रसिद्ध खून रंगे हाथ वाला था। देखो बुद्ध की शरणागति के प्रभाव को! आज मेरा भव-जाल कट गया। मैंने बुद्ध के शासन को पूरा कर लिया।"*

---

* थेरगाथा, पृष्ठ ६५-६६ (उत्तम भिक्षु द्वारा नागरी अक्षरों में प्रकाशित संस्करण)।

: ७ :

वक्कुल स्थविर

कुछ समालोचकों ने बौद्ध धर्म को सदाचार की स्मृति कहा है। उनका यह कहना इस अर्थ में ठीक है कि बौद्ध धर्म प्रधानतया 'आत्म-शुद्धि का मार्ग है और उसके साधनों की खोज वह जीवन की जाग्रत अवस्थाओं से लेकर अन्तःसंज्ञा के सूक्ष्म क्षेत्रों तक बड़े साहस के साथ करता है। कामनाओं के लोक से आरम्भ कर वह चित्त को उस लोकोत्तर भूमि में ले जाना चाहता है जहां राग, द्वेष, मोह से उसका छुटकारा हो जाता है और उस अत्यन्त परिशुद्ध, सर्वमलरहित, विशुद्धि का वह अनुभव करता है, जिसकी संज्ञा निर्वाण है। इस विशुद्धि का मार्ग ही बुद्ध-धर्म है। किन्तु यदि उपर्युक्त कथन का यह अर्थ लिया जाय (जिस अर्थ में कुछ ईसाई लेखकों ने इसे प्रायः प्रयुक्त किया है) कि बौद्ध धर्म नैतिक नियमों का एक संग्रह और विश्लेषण मात्र है और उसमें उस रागात्मक तत्व का अभाव है जो कर्म-प्रवृत्ति के लिए आवश्यक है, तो यह गलत है। बौद्ध धर्म कोरे उपदेशों का संग्रह नहीं है। उसमें ठोस जीवन है। शास्ताका शासन न केवल धर्म (सत्य) है और न केवल विनय। वह धर्म और विनय दोनों है। भगवान् बुद्ध का अनन्त सौन्दर्य और अनन्त शील-समन्वित रूप जिसकी तुलना में उषा की निष्पाप कान्ति और पवित्रता भी फीकी है, मनुष्य-हृदय को वह प्रेरणा देता है जिससे मनुष्यत्व की उच्चतम भूमि का साक्षात्कार किया जा सकता है। यह साधना कहां तक जा सकती है, इसका एक चित्र स्थविर वक्कुल के

जीवन में द्रष्टव्य है।

वक्कुल स्थविर भगवान् बुद्ध के उन इनेगिने शिष्यों में से थे, जिनकी साधना बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। उनका कठिन तप और उग्र साधना महाकाश्यप के समान ही थी, किन्तु सारिपुत्र के समान धर्म-प्रवचन करने में उनकी रुचि नहीं थी। यही कारण है कि उनके अधिक उपदेश हमें त्रिपिटक में उपलब्ध नहीं होते। वक्कुल एक ऐसे साधक के रूप में चित्रित किये गए हैं जिनका व्रतों का पालन बड़ा परिपूर्ण है; किन्तु जो दूसरों के लिए उनका उपदेश या अनुशासन नहीं करते। इसीलिए उनके विषय में कहा गया है— "तयिदं आयुस्मा वक्कुलो धुतो न धुतवादोति"[1] अर्थात् यह आयुष्मान् वक्कुल स्वयं अवधूत तो हैं, किन्तु अवधूत-व्रतों के उपदेशक नहीं। इससे मालूम पड़ता है कि इस विचित्र साधक में लोक-संग्रह का भाव कम था। इन्हें हमारे पौराणिक साहित्य के जड़ भरत के साथ भली प्रकार रक्खा जा सकता है या महाभारत के उस ऋषि के साथ जिसने अपने विषय में कहा है—उपदेशेन वर्तामि नानु-शास्मीह कंचन। अर्थात् मैं स्वयं उपदेश से बरतता हूं, पर किसी को उसका उपदेश नहीं करता। सारिपुत्र के जीवन की-सी वह परिपूर्णता यहाँ नहीं दिखाई देती जिसमें स्वयं आचरण के साथ दूसरों के लिए उसका उपदेश अर्थात् समाज में व्यापक प्रचार भी उतना ही आव-श्यक है। फिर भी स्थविर वक्कुल के जीवन का हमारे लिए एक आकर्षण है।

वक्कुल की जन्म-कथा भी बड़ी विचित्रतापूर्ण है। कहा जाता है कि वक्कुल का जन्म कौशाम्बी की परिषद् के एक सभासद के घर में हुआ था। जब दाई नवजात शिशु को यमुना में नहला रही थी तो

१, विसुद्धि-मग्ग २-८२ में उद्धृत (आचार्य धम्मानन्द कोसम्बी का संस्करण)

उसकी असावधानी से वह नदी में गिर गया। एक मछली उसे निगल गई। बनारस (वाराणसी) के एक सभासद के यहां मछुए ने उस मछली को बेचा। मछली के पेट में से बच्चा जीवित दशा में निकाला गया। जब इस बात का ढिंढोरा पीटा गया तो मालूम हुआ कि बच्चा कौशाम्बी के एक सभासद.का है। राजा के निर्णय के अनुसार उस बच्चे पर दोनों कुलों का समान अधिकार माना गया। दो कुलों का होने के कारण ही बच्चे का नाम 'बा-कुल' 'बक्कुल' 'वक्कुल' पड़ा। कहानी चमत्कारपूर्ण अवश्य है, किन्तु इसमें सत्यांश कितना है, यह कहना कठिन है। अधिक काल तक गृहस्थ-धर्म का पालन कर, एक दिन बुद्ध-प्रवचन सुनने पर, वक्कुल घर से बेघर हो प्रव्रजित हो गये। यही हमारे लिए कहानी का आदि हो सकता है।

एक दिन वक्कुल स्थविर राजगृह के समीप निवास कर रहे थे। वहां उनसे अपने एक पुराने मित्र अचेल नग्न काश्यप की भेंट हो गई। दोनों में एक दूसरे की साधना पर संलाप होने लगा। वक्कुल से उनके अनुभवों पर बातचीत करते हुए अचेल काश्यप ने पूछा,

"मित्र वक्कुल ! संन्यासी हुए आपको कितना समय हुआ ?"

"मित्र, मुझे अस्सी वर्ष हो गये !"

"इन अस्सी वर्षों में मित्र , तुमने कितनी बार मैथुन सेवन किया ?"

"मित्र काश्यप ! मुझ से इस तरह प्रश्न नहीं पूछना चाहिए कि तुमने कितनी बार मैथुन सेवन किया। बलिक यों पूछना चाहिए—इस अस्सी वर्ष के समय में तुम्हें कितनी बार विषय-वासना उत्पन्न हुई ? मित्र , इन अस्सी वर्षों में मैं एक बार भी अपने अन्दर काम-सम्बन्धी विचार का उत्पन्न होना नहीं जानता।"

अचेल काश्यप रोमांचित हो उठा। वक्कुल स्थविर ने आगे अपने अनुभवों को बतलाते हुए कहा—"अस्सी वर्ष के समय मे एक बार भी, द्वेष-सम्बन्धी विचार का उत्पन्न होना मैं अपने चित्त में नहीं जानता।

"हिंसा-सम्बन्धी विचार का अपने चित्त में उत्पन्न होना नहीं जानता।

"द्रोह-सम्बन्धी विचार का अपने चित्त में उत्पन्न होना नहीं जानता।

"गृहस्थों का दिया वस्त्र पहनना नहीं जानता।

"कैंची आदि से कतरे वस्त्रों को पहनना नहीं जानता।

"सुई से सिये वस्त्र को पहनना नहीं जानता।

"सब्रह्मचारियों के वस्त्र बनाना नहीं जानता।

"निमन्त्रण खाना नहीं जानता।

"गृहस्थ के घर में बैठना नहीं जानता।

"गृहस्थ के घर में बैठकर भोजन करना नहीं जानता।

\+ + +

"स्त्रियों के आकार-प्रकार का चिन्तन करना नहीं जानता।

"स्त्रियों को चार पद की गाथा तक भी उपदेश करना नहीं जानता।

"भिक्षुणियों को भी कभी धर्म उपदेश किया हो—नहीं जानता।

"किसी को कभी प्रव्रज्या देना नहीं जानता।

"स्नानगृह में नहाना कैसा होता है, नहीं जानता।

"लेप से नहाना नहीं जानता।

"सब्रह्मचारियों (गुरुभाइयों) से देह मलवाना नहीं जानता।

"क्षण भर के लिए भी किसी से देह मलवाना नहीं जानता।

"क्षण भर के लिए भी किसी बीमारी का उत्पन्न होना नहीं जानता।

"हर्रे के टुकड़े के बराबर भी कभी औषध का खाना नहीं जानता।

"खाट बिछाकर सोना नहीं जानता।

"शय्या पर लेटना नहीं जानता।

"वर्षा में भी गाँव के भीतर रहना नहीं जानता।"*

* बक्कुल सुत्तन्त (मज्झिम. ३।३।४)

इस प्रकार की लोकोत्तर साधना स्थविर वक्कुल की थी। बुद्ध-उपदेश सुनने के सातवें दिन ही उन्हें ज्ञान प्राप्त हो गया। जैसा कि उन्होंने कहा भी है—"सप्ताह भर ही मैंने चित्त-मल-युक्त हो राष्ट्र का अन्न खाया। आठवें दिन मुझे शुद्ध अर्हत्त्व-ज्ञान उत्पन्न हुआ।" आश्चर्य नहीं कि अपने स्वस्थ, खिलते हुये चेहरे वाले भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए, एक दिन भगवान् ने उद्घोषित किया, "भिक्षुओ! मेरे स्वस्थ नीरोग शिष्य भिक्षुओं में यह वक्कुल ही सबसे आगे है।"† १६० वर्ष की आयु में स्थविर वक्कुल ने शरीर छोड़ा।

---

† एतदग्गं भिक्खवे मम सावकानं भिक्खूनं अप्पाबाधानं यदिदं वक्कुलो'ति। अंगुत्तर-निकाय; मिलिन्दपञ्हो, मेण्ढकपञ्हो, मे उद्धृत।

: ८ :

अनाथपिंडिक

अनाथपिंडिक श्रावस्ती (सावत्थी)[1] का एक धनवान सेठ (सेट्ठि)† था। श्रावस्ती भगवान् बुद्ध के जीवन-काल में एक बड़ी समृद्ध नगरी थी। आचार्य बुद्धघोष के अनुसार उस समय इसमें ५७,००० परिवार रहते थे और काशी-कोशल प्रदेश की, जिसमें ८०,००० गांव बसे हुए थे, यह सबसे बड़ी नगरी समझी जाती थी। इसीलिए कोशल-नरेश प्रसेनजित् ने इसे अपनी राजधानी बनाया था। दूर-दूर के सौदागर श्रावस्ती के बाजारों में आकर पूछते, "यहां क्या सामान है?" (किं भंडं अत्थि) तो उन्हें उत्तर मिलता, "सभी कुछ है" (सब्बं अत्थि)। इसी उत्तर के आधार पर इस नगर का नाम 'सावत्थी' (सब्बं अत्थि) पड़ा। एक किंवदन्ती यह भी है कि 'सवत्थ' नामक मुनि के यहां रहने के कारण इस नगर का नाम 'सावत्थी' पड़ा। श्रावस्ती अचिरवती‡ नदी के किनारे पर बसी हुई थी। साकेत यहां से करीब १८ मील, राजगृह दक्षिण-पूर्व में १३.५ मील, संकाश्य नगर ६० मील और तक्षशिला ४४१ मील दूरी पर स्थित थे। एक सड़क श्रावस्ती से वैशाली होती हुई राजगृह जाती थी। इसी सड़क पर कपिलवस्तु, कुसीनारा, पावा और भोग नगर आदि शहर बसे हुए थे,

* वर्तमान सहेट-महेट, राप्ती नदी के किनारे पर।

† सेट्ठी या नगर-सेठ उस समय एक सम्माननीय राजकीय पद था, जिस की तुलना आजकल के 'मेयर' से की जा सकती है।

‡ आधुनिक राप्ती नदी।

जहां यात्रियों की सुविधा के लिए विश्रामगृह भी बने हुए थे। एक और दूसरी सड़क श्रावस्ती से दक्षिण की ओर होती हुई कौशाम्बी को जाती थी। श्रावस्ती और साकेत के बीच में तोरणवस्तु नामक नगर स्थित था। भगवान् बुद्ध के समय में भारतवर्ष मे छः प्रसिद्ध नगरों का वर्णन मिलता है। उन्हीं में से एक श्रावस्ती भी थी। अन्य पांच प्रसिद्ध नगर थे—चम्पा, राजगृह, साकेत, कौशाम्बी कौर वाराणसी। तथागत के यहां बहुत काल तक रहने का सौभाग्य श्रावस्ती को मिला था। इसी प्रसङ्ग में अनाथपिंडिक भी हमारी स्मृति का विषय बन गया है।

अनाथपिंडिक कुल से वैश्य, पेशे से व्यवसायी और गुण-स्वभाव से विरक्त महापुरुष था। श्रावस्ती के चारों ओर दूर-दूर तक उसका कारबार फैला हुआ था। काशी-प्रदेश में भी उसका एक गांव था, जहां से वह मुनीमों की सहायता से व्यापार करता था। अनाथपिंडिक का वास्तविक नाम सुदत्त था। अनाथ स्त्री-पुरुषों को भोजन (पिंड) देने और उनके जीवन की व्यवस्था करने के कारण वह 'अनाथपिंडिक' कहलाता था। अनाथपिंडिक की भार्या का नाम पुण्यलक्षणा* था, जो राजगृह के नगर-सेठ की बहिन थी। अनाथपिंडिक के एक लड़के का भी जिक्र मिलता है जिसका नाम काल था। अनाथपिंडिक के तीन लड़कियां भी थीं जिनके नाम थे—महासुभद्रा, चूलसुभद्रा और सुमना। पहली दो लड़कियां विवाह होने के पश्चात् अपने-अपने पतियों के घर चली गईं। तीसरी लड़की (सुमना) उपयुक्त वर न मिलने के कारण शोकसन्तप्त होकर मर गई। अनाथपिंडिक के पिता का नाम

---

* जो वास्तव में 'यथा नाम तथा गुण' थी। जातक के एक सुन्दर कथानक के अनुसार अनाथपिंडिक के भाग्य का गुप्त रहस्य उसकी भार्या के मस्तक में बसता था। सम्भवतः अपने पति की इतनी उन्नति का कारण यह गृह-लक्ष्मी ही थी।

सुमन गृहपति था।

भगवान् बुद्ध से प्रथम साक्षात्कार अनाथपिंडिक का उस समय हुआ जब एक बार व्यापार के काम से उसे राजगृह जाना पड़ा। उस समय भगवान् बुद्ध तथागत बुद्धत्व-प्राप्ति के प्रथम वर्ष में राजगृह में ही विहार कर रहे थे। अनाथपिंडिक के साले, राजगृह के नगर-सेठ, ने अगले दिन के लिए उन्हें निमन्त्रण दे रक्खा था। वह उसीकी तैयारी में लगा हुआ था। अनाथपिंडिक की उतनी आवभगत नहीं हो सकी जितनी पहले हुआ करती थी। अनाथपिंडिक बड़े आश्चर्य में पड़ गया कि आखिर इतनी बड़ी तैयारियां किसलिए की जा रही हैं। उसने पूछा, "गृहपति! क्या तेरे यहां कोई विवाह-उत्सव है, या महायज्ञ है, या मगधराज बिम्बिसार को तूने निमन्त्रण दे रक्खा है, जिससे तू इतनी तैयारी में लगा हुआ है?" राजगृह के सेठ ने उत्तर दिया, "गृहपति! न मेरे यहां कोई विवाह-उत्सव है, न मगधराज बिम्बिसार को ही मैंने निमन्त्रण दिया है। मेरे यहां कल एक बड़ा यज्ञ है। संघ-सहित बुद्ध कल भोजन के लिए मेरे यहां निमन्त्रित हैं।" अनाथपिंडिक सन्नाटे में आ गया। न जाने कब-कब के पुण्य-संस्कार उस व्यवसायी के हृदय में उदय हुए, जिससे 'बुद्ध' का नाम-मात्र सुनते ही उसके रोमाञ्च हो गया। उसकी सुध-बुध ऐसी हो गई, जैसी 'कृष्ण' नाम सुन कर भोंचक्की हुई प्रेम-योगिनी व्रजाङ्गनाओं की हो जाया करती थी।

"गृहपति! तू 'बुद्ध' कह रहा है?"

"हां, गृहपति! मैं 'बुद्ध' कह रहा हूं।"

"बुद्ध?"

"हां, बुद्ध!"

"बुद्ध?"

"हां, बुद्ध!"

"बुद्ध यह शब्द भी लोक में दुर्लभ है। गृहपति! क्या इस समय उन पूर्ण-पुरुष 'बुद्ध' के दर्शनों के लिये जाया जा सकता है?"

"गृहपति ! यह समय उन भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध के पास जाने का नहीं है।"

इच्छा न रहते भी अनाथपिंडिक यह सोच कर कि अब कल ही भगवान् बुद्ध के दर्शनों के लिए जाऊँगा, सो रहा। किन्तु उसका संवेग बहुत तीव्र हो रहा था। 'बुद्ध' यह शब्द उसके सारे मनोविज्ञान को उद्वेलित कर रहा था। रात को सवेरा समझ तीन बार उठा। इतनी व्याकुलता उसे उस समय बुद्ध दर्शनों की हो रही थी। रात के अँधेरे में में ही चल दिया। रास्ते में उसे कुछ डर भी मालूम हुआ, जिससे एक बार उसने लौटने का मन में विचार किया, किन्तु अन्तर्नाद रूपी सहायक यक्ष उससे कह रहा था—"अनाथपिंडिक ! सौ हाथी-घोड़े, सौ खच्चरों के रथ, मणि-कुण्डल पहने सौ हजार कन्याएँ भी एक पद के कथन के सोलहवें भाग के मूल्य के बराबर नहीं है। चल गृहपति ! चल, आगे बढ़ना ही श्रेयस्कर है, लौटना नहीं।" गृहपति ने बढ़ कर देखा कि आगे सम्यक् सम्बुद्ध उषा के शीतल पवन में इधर-उधर घूम रहे हैं। प्रणामाञ्जलि की। भगवान् टहलने की जगह से नीचे उतर आए। "आओ सुदत्त"—कह कर अनाथपिंडिक को बुलाया।* यह सुन कर कि तथागत मुझे मेरे नाम से बुला रहे हैं, अनाथपिंडिक को बड़ी प्रसन्नता हुई। वह भगवान् के पैरों में लिपट गया। भगवान् उस रात चौड़े में पत्तों पर ही सोये थे। बड़ी आत्मीयतापूर्वक श्रेष्ठी ने पूछा, "भन्ते ! भगवान् को नींद तो सुख से आई ?" भगवान् का उत्तर था—

"निर्वाण-प्राप्त ब्राह्मण सदा सुख से सोता है, क्योंकि वह शीतल और दोष-रहित हो काम-वासना में लिप्त नहीं होता।

"सारी आसक्तियों को हटा कर, हृदय से भय को दूर कर, चित्त

---

* भगवान् बुद्ध अनाथपिंडिक को उसके वास्तविक नाम सुदत्त से ही पुकारा करते थे। अनाथपिंडिक भी इससे 'सुर-नर-मुनि दुर्लभ' सुख अनुभव करता था।

की शांति को प्राप्त कर उपशांत हो वह सुख से सोता है।"

यही भगवान् का अनाथपिंडिक के प्रति प्रथम उपदेश था। अनाथपिंडिक को श्रद्धा उत्पन्न हुई। वह गृहस्थ शिष्य (उपासक) दीक्षित हुआ।

राजगृह लौट कर अनाथपिंडिक ने अपने खर्चे से भोजन तैयार करवा कर सङ्घसहित बुद्ध को निमन्त्रित किया। मगध-राज बिम्बिसार तक ने (जिसके साथ अनाथपिंडिक के प्रायः समानता के ही सम्बन्ध थे) इस विषय में उसकी सहायता करने के लिये कहा, किन्तु श्रेष्ठी ने सब काम अपने ही हाथों से किया। भोजन भी उसने अपने हाथों से ही परोसा। भोजनोपरान्त उसने भगवान् से प्रार्थना की—"भन्ते! अच्छा हो यदि भिक्षु-सङ्घ के साथ भगवान् श्रावस्ती में वर्षावास करना स्वीकार करें।" भगवान् ने मौन से स्वीकृति देते हुए कहा—"गृहपति! तथागत एकान्त, शून्य स्थान में अभिरमण करते हैं।"

"समझ गया भगवन्! जान गया सुगत।" श्रद्धावनत श्रेष्ठी का उत्तर था।

राजगृह में अपना कार्य समाप्त कर अनाथपिंडिक श्रावस्ती चला गया। रास्ते भर वह इसी आनन्द की अनुभूति में विभोर होता गया—"लोक में बुद्ध उत्पन्न हो गये हैं, उन भगवान् को मैंने निमन्त्रित किया है। वे इस मार्ग से आयेंगे।" रास्ते में वह जहाँ-तहाँ बगीचे, कुएँ आदि बनवाता गया ताकि आते हुए तथागत और उनके शिष्यों को कष्ट न हो। 'आदेय्यवचो' (जिसके वचनों का सब आदर करें) तो वह था ही। जो-जो आज्ञा जिसको देता गया, उसने वही कार्य पूरा किया। श्रावस्ती पहुँच कर उसने ऐसे स्थान की खोज आरम्भ की जो तथागत के निवास के लिए अनुकूल हो। उसे राजकुमार जेत का उद्यान इसके लिए उपयुक्त जान पड़ा। वह न शहर से बहुत दूर था न अधिक समीप। जो लोग वहाँ जाना चाहते आसानी से जा सकते थे। रात्रि में वह स्थान एकान्त रहता था और ध्यान के योग्य था।

राजकुमार जेत के पास जा कर अनाथपिंडिक ने कहा, "आर्यपुत्र ! मुझे विहार बनाने के लिये अपना उद्यान दे दीजिये।" राजकुमार जेत ने उत्तर दिया, "गृहपति ! यह तो अशर्फियों को किनारे से किनारे मिला कर देने से भी नहीं दिया जा सकता।" "आर्यपुत्र ! तब तो मैंने यह उद्यान खरीद लिया।" चतुर व्यवसायी ने उत्तर दिया। "गृहपति ! तूने यह नहीं खरीदा !" राजघराने का-सा गौरव दिखाते हुए जेत राजकुमार ने कहा। मामला राज्य के न्यायाधीशों तक पहुँचा। उनका निर्णय अनाथपिंडिक के पक्ष में ही हुआ। न्यायाधीशों का निर्णय था कि चूंकि राजकुमार ने मोल किया, इसलिए गृहपति ने इसे ले लिया। अनाथपिंडिक ने अशर्फियां किनारे से किनारा मिला कर राजकुमार जेत के उद्यान में बिछा दीं। एक बार ढोकर लाई हुई अशर्फियां १८ करोड़ थीं। उनसे उद्यान की प्रायः सब जगह ढँक गई। थोड़ी-सी बाकी बच रही, जिसको ढाँकने के लिए अनाथपिंडिक ने अपने आदमियों को दुबारा अशर्फियां लाने को भेजा, किन्तु उसे रोकते हुए जेत राजकुमार ने कहा, "बस गृहपति ! इस वक्त खाली जगह को तू न ढांक। इसे तू मुझे दे दे, यह मेरा दान होगा।" अनाथपिंडिक ने स्वीकार कर लिया। तदनुसार उस जगह पर अनाथपिंडिक ने उद्यानभूमि में एक विशाल विहार और सुरम्य बगीचा बनवाया और कुमार जेत के नाम पर उसका नाम 'जेतवन आराम' रक्खा। पालि त्रिपिटक में इस आराम को सर्वत्र 'अनाथपिंडिक का जेतवनाराम' कह कर पुकारा गया है। इस आराम मे अनाथपिंडिक ने अनेक विश्राम स्थान, आँगन वाले मकान (परिवेण) कोठियाँ, सभागृह, अग्निशाला (पानी गरम करने की कोठियाँ), ध्यान के चबूतरे, स्नानागार, छोटे-छोटे तालाब और मण्डप बनवाए। १८ करोड़ में जेतवन की जमीन खरीदी गई थी, १८ करोड़ ही विहार बनवाने में खर्च हुए और जब बुद्धत्व प्राप्ति के चौदहवें वर्ष भगवान् उधर आए तो १८ करोड़ ही अनाथपिंडिक ने भण्डारे में खर्च किए। इस प्रकार

कुल ५४ करोड़ जेतवनाराम पर खर्च हुए। भगवान् बुद्ध की प्रेरणा से उसने इसे बुद्ध संघ के लिये समर्पित कर दिया।

बौद्धधर्म के इतिहास में जेतवनाराम का एक महत्वपूर्ण स्थान है। बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद २० वर्ष तक तो भगवान् बुद्ध अनेक स्थानों में वर्षावास करते रहे, किन्तु इक्कीसवें वर्ष से लेकर चवालीसवें वर्ष तक लगातार श्रावस्ती में ही अपने वर्षावास उन्होंने किये। सिर्फ अपना पैंतालीसवाँ वर्षावास (जो उनका अन्तिम वर्षावास था) उन्होंने वैशाली में अवश्य बिताया। मज्झिम-निकाय में भगवान् के द्वारा उपदिष्ट १५० सुत्त हैं। उनमें से ६५ अकेले जेतवनाराम में ही दिए गए। इसी प्रकार संयुक्त और अंगुत्तर निकायों के भी अधिकांश उपदेश जेतवन में ही दिये गए। विनयपिटक के तो ३०० शिक्षापदों में से २९४ श्रावस्ती में ही प्रज्ञप्त किये गए। श्रावस्ती में यद्यपि भगवान् का प्रधान निवास-स्थान जेतवनाराम ही था, किन्तु वहाँ पर कुछ अन्य विहार भी थे जो बुद्ध-संघ के लिए अन्य व्यक्तियों ने बनवाये थे। जेतवनाराम के ठीक पीछे राजा प्रसेनजित का बनवाया हुआ राजका-राम (राजा के द्वारा बनवाया हुआ आराम) था जो भिक्षुणियों के लिए था। श्रावस्ती में ही विशाखा मृगारमाता ने २७ करोड़ की लागत से पूर्वाराम नामक विहार बनवाया था जो ६ साल में बनकर तैयार हुआ था और दोमंजिला था। भगवान् ने कुल २५ वर्षावास (१४ वाँ वर्षावास और २१ वें से लेकर ४४ वें तक) श्रावस्ती में बिताये थे। उनमें से १९ वर्षावास तो केवल जेतवनाराम में बिताये थे और सिर्फ ६ पूर्वाराम में। इसलिए जिस भावना के साथ हम लुम्बिनी (बुद्ध का जन्म-स्थान) बोध गया (बुद्धत्व प्राप्ति स्थान) सारनाथ (प्रथम धर्मचक्र-प्रवर्तन का स्थान) और कुसीनारा (बुद्ध के महापरिनिर्वाण का स्थान) को याद करते हैं, उसी भावना के साथ जेतवनाराम को भी करना चाहिए; क्योंकि वहाँ तथागत सबसे अधिक काल तक ठहरे थे।

अनाथपिंडिक प्रतिदिन दो बार जेतवनाराम में भगवान् बुद्ध के दर्शन करने के लिए जाया करता था। जब कभी जाता, अपने साथ कुछ-न-कुछ अवश्य ले जाता। जब कभी बुद्ध बाहर जाते तो उस समय के लिए उसने बोधि-वृक्ष की डाल जेतवनाराम के दरवाजे पर लगा रक्खी थी, जिसकी वह पूजा करता था। अनाथपिंडिक ने बुद्ध-संघ के लिये बहुत पैसा खर्च किया। वैसे उसका दान बौद्धमतावलम्बियों और अन्य मनुष्यों में भेद करना नहीं जानता था। जहां-जहां भी अनाथपिंडिक का व्यापार चलता था उसके आदमियों को आज्ञा थी कि जो कोई आदमी वहां आयें उन्हें भोजन खिलाया जाय। अतिथियों के अलावा १००० मनुष्य उसके घर पर प्रतिदिन भोजन करते थे। ५०० जगहें हमेशा आगन्तुकों के लिए सुरक्षित रहती थीं। जो कोई भी आ जाता उसका समान रूप से आदर-सत्कार होता था। अपनी दानशीलता के कारण अनाथपिंडिक के पास बाद में बिलकुल धन नहीं रहा। एक संस्कृत-कवि के शब्दों में उसकी हालत उस स्वच्छ बादल के समान हो गई जो बरसने के बाद शुभ्र श्वेत रंग धारण कर लेता है। इस हालत में जब भिक्षु या भगवान् बुद्ध अनाथपिंडिक के पास आते तो वह उन्हें अलोने दलिये के सिवा कुछ न दे सकता। अनाथपिंडिक पूर्णतः अकिंचन बन गया। उसके इस अपरिमित त्याग के कारण ही भगवान् ने उसे अपने दानी शिष्यों में प्रधान कहा। एक बार अनाथपिंडिक को इस बात से बड़ा दुःख हुआ कि अपनी अकिंचनता की हालत में वह भगवान् की सेवा नहीं कर पाता; किन्तु भगवान् ने उसे सान्त्वना दी और कहा कि दान की महत्ता द्रव्य से नहीं, किन्तु हृदय से होती है। अनाथपिंडिक को भगवान् के उपदेश से बड़ी शान्ति मिली। अनाथपिंडिक की महत्ता बुद्ध-संघ में इतनी उसके दान के कारण नहीं थी जितनी उसके मानवीय गुणों के कारण। एक बार तो स्वयं भगवान् बुद्ध ने उसे हल्की चेतावनी देते हुए कहा था कि विहारों का बनवाना या भिक्षु-संघ को दान देना उतना महत्वपूर्ण नहीं है

जितना शुद्ध आचरण का अभ्यास, शांति का व्यवहार और अनित्यता का चिंतन। इनमें भी प्रत्येक उत्तरोत्तर का महत्त्व पूर्ववर्ती गुण से बढ़कर है।* भगवान् ने यह भी कहा था कि केवल प्रभूत दान देकर ही सन्तुष्ट होजाना ठीक नहीं है, बल्कि देनेवाले को यह भी सोचना चाहिये कि चित्त की शांति से उत्पन्न सुख का भी वह अपने जीवन में अनुभव कर रहा है या नहीं ?† अनाथपिंडिक ने भगवान् बुद्ध के इस उपदेश के अनुसार ही शासन के सर्वोत्तम तत्त्व की साधना करने का प्रयत्न किया था। इसका सबसे बड़ा लक्षण हम उसकी नम्रता में देखते हैं। तथागत के गौरव से तो वह इतना दबा हुआ था कि कभी उसने भगवान बुद्ध से कोई प्रश्न पूछने तक की हिम्मत नहीं की। वह समझता था कि ऐसा करने से तथागत को कष्ट होगा, किन्तु जिस अनाथपिंडिक ने बुद्ध के नाम पर अपना सब कुछ दुःखी मानवता को भेंट कर अकिंचनता का व्रत लिया था उसे उपदेश करने के लिए भगवान् स्वयं ही प्रेरित होते थे। ऐसे कई उपदेश अंगुत्तर-निकाय में संनिहित हैं। हां, एक बार अनाथपिंडिक ने भी भगवान् से दान के बारे में प्रश्न पूछा था और भगवान् ने उसका उत्तर दिया। भगवान् ने अनाथपिंडिक को जो उपदेश दिए उनमें गृहस्थ-धर्म का बड़ा अच्छा निरूपण मिलता है। गृहस्थों के कर्तव्यों (गहट्ठामि किच्चानि) पर तो प्रवचन अत्यन्त पठनीय है। जो यह समझते हैं कि बुद्ध ने भिक्षु और भिक्षुणियों के नियमों को छोड़कर गृहस्थों के लिए तो कोई आदेश किया ही नहीं, उन्हें सिगालोवाद-सुत्त के अतिरिक्त अनाथपिंडिक के प्रति प्रदत्त किये हुए उपदेशों को अवश्य पढ़ना चाहिए।

---

* देखिये अंगुत्तर-निकाय, जिल्द चौथी, पृष्ठ ३९२ (पाली टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

† अंगुत्तर-निकाय जिल्द तीसरी, पृष्ठ ४७-४८ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

एक बार भगवान् बुद्ध जेतवनाराम से बाहर जाने वाले थे। अनाथपिंडिक ने उनसे प्रार्थना की कि भगवान् अभी बाहर न जायँ। अनाथपिंडिक को भगवान् के दर्शनों से कभी तृप्ति ही नहीं होती थी। भगवान् ने रुकना स्वीकार नहीं किया। कोशलराज प्रसेनजित् और विशाखा मृगारमाता ने भी भगवान् से बड़ी प्रार्थना की कि भगवान् अभी बाहर न जायँ। भगवान् ने उनकी प्रार्थनाओं को भी स्वीकार नहीं किया। अनाथपिंडिक की पूर्णा नामक दासी-पुत्री को यह बात मालूम पड़ी। उसने अपने स्वामी से कहा कि मैं भगवान् से प्रार्थना कर उन्हें रोक सकती हूं। अनाथपिंडिक को बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह लड़की यह काम कैसे कर सकती है जब इतने बड़े माननीय पुरुषों की भी प्रार्थना तथागत ने अस्वीकार कर दी है। खैर, पूर्णा ने भगवान् से जाकर कहा—भन्ते! मैं बुद्ध धर्म और संघ की शरण में जाने और पवित्र जीवन बिताने के लिये तैयार हूं, यदि आप अपना जाना स्थगित कर दें। पूर्णा के इस प्रस्ताव पर 'करुणा के देव' ने अपना जाना स्थगित कर दिया। पूर्णा उस दिन से अनाथपिंडिक की नौकरी से मुक्त कर दी गई, उसे अनाथपिंडिक ने उस दिन से पुत्री की तरह रक्खा और वह पवित्र जीवन में दीक्षित हुई। देवेन्द्र शक्र से लेकर कीट-पतंगे तक की समता स्थापित करने वाले तथागत के लिए यह कोई बड़ा काम नहीं था कि वे प्रसेनजित् जैसे राजा और अनाथ-पिंडिक जैसे महा सेठ से भी एक दासी-पुत्री का अधिक मान रखते और उसे उनसे पुजवाते।

अनाथपिंडिक की बीमारी का हाल बड़ा हृदय-द्रावक है। वह बहुत बीमार हो गया। उसने अपने एक आदमी को बुलाकर कहा, "मित्र! जहां भगवान् हैं वहां जाओ। जाकर मेरी ओर से चरणों में वन्दना कहो, और यह भी—"भन्ते! अनाथपिंडिक गृहपति बीमार है। वह भगवान् के चरणों में शिर से वन्दना करता है।" बस, इतना ही सन्देश अनाथपिंडिक ने भगवान् के लिए भेजा। कितनी मार्मिकता है,

कितनी हृदय-स्पर्शी भक्ति है! धर्म सेनापति सारिपुत्र के लिए भी (सारिपुत्र और आनन्द से अनाथपिंडिक की विशेष घनिष्ठता थी) उसने यह सन्देश अपने नौकर के हाथ भिजवाया—"भन्ते! अनाथपिंडिक बीमार है। वह आयुष्मान् सारिपुत्र के चरणों में शिर से वन्दना करता है। अच्छा हो भन्ते! आप कृपा कर अनाथपिंडिक गृहपति के घर चलें।" बीमारों की सेवा करना भिक्षुओं का स्वभाव-प्राप्त धर्म था। सारिपुत्र और आनन्द भगवान् की अनुमति लेकर उधर चल दिये। जाकर पूछा, "गृहपति! ठीक तो है! काल यापन तो हो रहा है? दुःख की वेदनाएँ हट तो रही हैं? रोग का हटना तो मालूम हो रहा है? उसका लौटना तो मालूम नहीं हो रहा?"

"भन्ते! मेरी हालत ठीक नहीं है। मुझे अत्यधिक जलन हो रही है।"

"तो गृहपति! तुम अभ्यास करो—मैं चक्षु का उपादान न करूँगा, मेरा चित्त चक्षु में आसक्त न होगा। श्रोत्र में, घ्राण में, रूप में, शब्द में, रस में, स्पर्श में ...चक्षुर्विज्ञान में, श्रोत्रविज्ञान में ...चक्षु-संस्पर्श में, श्रोत्र-संस्पर्श में ...वेदनाओं में, विज्ञान में, संज्ञा में, संस्कारों में, मेरा चित्त आसक्त न होगा, मैं उनका उपादान न करूँगा। गृहपति! अभ्यास करो—जो कुछ भी मेरा दृष्ट, श्रुत, स्मृत, विज्ञात, प्राप्त, पर्येषित, या काया या मन में आचरण किया हुआ है, उनका मैं उपादान न करूँगा, मेरा चित्त उसमें आसक्त न होगा।" सारिपुत्र के इस पूर्ण अनात्मवाद (अनात्मवाद) के उपदेश को सुनकर अनाथपिंडिक फूट-फूटकर रोने लगा। आनन्द को लगा कि उपासक अपने हृदय की कमजोरी दिखा रहा है। उन्होंने पूछा, "गृहपति! क्यों घबरा रहे हो? दिल छोटा क्यों कर रहे हो?"

"भन्ते आनन्द! मैं घबरा नहीं रहा, दिल छोटा नहीं कर रहा। बल्कि भन्ते! मैंने दीर्घकाल से शास्ता और भिक्षु-संघ की सेवा की; किन्तु ऐसा धर्मोपदेश मुझे सुनने को नहीं मिला।" दूसरे और तेर

बाद ही अनाथपिंडिक ने शरीर छोड़ दिया।

भगवान् बुद्ध का दायक! कितना ऊँचा विशेषण है। बुद्ध ने दुनिया को दिया। अनाथपिंडिक को आज हम बुद्ध का दायक कहते हैं। उपासक सुदत्त को आज हम इसलिए स्मरण नहीं करते कि वह लाखों का मालिक था, अथवा लाखों ही उसने बुद्ध और संघ के लिए खर्च किए! यह तो गौण था और फिर जिसकी आवभगत के लिए बिम्बिसार और प्रसेनजित् जैसे राजा और अनाथपिंडिक जैसे महासेठ लालायित रहते थे। वह महाश्रमण तो प्रतिदिन नियमानुसार भिक्षापात्र लेकर घर-घर से नीचा सिर किये मौन खड़ा होकर भिक्षा लाता था, कभी-कभी रीता पात्र लेकर ही लौट आता था! दिन में एक बार खाने वाला वह महाश्रमण कभी-कभी पसौभर सूखे चावल ही खाकर पानी पी लेता था और कभी-कभी उसके वस्त्र सिये जाते थे दास और दासियों के फैंके हुए कपड़ों से! ऐसे महापुरुष को किसी के दान की क्या आवश्यकता हो सकती थी? संघ का भी बन्धन या ममत्व उसके लिए नहीं था जैसा उसने अनेक बार प्रकट कर दिया। फिर किसके लिए वह दान ग्रहण करता? अनाथपिंडिक का दायकत्व वास्तव में उसी के ऋण का सूचक था, जिसे चुकाने का उसने जीवन-पर्यन्त यत्न किया। बुद्ध के नाम पर उसने दुःखी मानवता के साथ अपने-आपको आत्मसात् कर लिया, यही उसकी बुद्ध-धर्म के लिए सबसे बड़ी सेवा हुई। तथागत के मार्ग का अनुसरण कर अनाथपिंडिक ने अपने को साम्य के उस महासागर में डाल दिया जिसकी लहरों की आवाज सारे उपनिषद् और बौद्ध साहित्य में सुनाई देती है। अनाथ-पिंडिक के घर में अलोने दलिये का भी न बन सकना इस बात का सूचक है कि वह किस हद तक दुःखी मानवता के साथ तादात्म्य कर सका था। अनाथपिंडिक को आज हम उसके मानवीय गुणों के कारण ही स्मरण करते हैं, उसके दानों के कारण नहीं, यद्यपि उसके दान भी उसके हृदय की विशालता की उपज थे और उनका भी

एक महत्त्व है। अपने शास्ता के प्रति मूर्तिमयी कृतज्ञता खड़ी करने के लिए ही इस उपासक ने जेतवनाराम को खड़ा किया। यहां अपने हृदय के देवता को संघ-सहित बैठाकर और उनकी बड़ी तन्मयता पूर्वक सेवाकर श्रेष्ठी के हृदय को कभी नष्ट न होने वाली वह विमुक्ति-रूपी चित्त की शान्ति मिली जिसे काया का बन्धन छोड़ देने के बाद भी उसकी आत्मा सदा अनुभव करती रही—

इदं हि तं जेतवनं इसिसंघनिसेवितं।
आवुट्ठं धम्मराजेन पीतिसंजननं मम॥*

---

* "अहो ! मेरी आध्यात्मिक प्रसन्नता को पैदा करने वाला यही वह जेतवन (आराम) है जिसका ऋषि (बुद्ध) ने संघ के सहित सेवन किया, जहाँ स्वयं श्रेष्ठ ज्ञानी (बुद्ध) ने निवास किया" अनाथपिंडिक की आत्मा शरीर छोड़ने के बाद जेतवन को देखकर यह प्रसन्न उद्गार करती हुई दिखाई गई है। देखिये अनाथपिंडिकोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम ३.५।१)

: ९ :

महाप्रजापती गोतमी

"वहूनं वत अत्थाय माया जनयि गोतमं"

उपर्युक्त शब्द, महाप्रजापती गोतमी के हैं। वह कहती है—"अहो! वहुतों के लिए ही माया ने गोतम को जना।" इनसे अधिक उदात्त शब्दों में किसी छोटी वहन ने अपनी वड़ी स्वर्गीया वहन को श्रद्धाञ्जलि अर्पित नहीं की। इस देश में स्त्री-जाति का गौरव मातृत्व माना गया है। पालि-साहित्य में तो स्त्री-समाज के लिए सामान्यतः 'मातृग्राम' (मातुगाम) अर्थात् 'माताओं का समुदाय' शब्द ही प्रयुक्त होता है। संसार की जितनी स्त्रियाँ हैं, माताएँ हैं, बौद्ध सङ्घ की यही मान्यता थी। गोतमी अपनी वहन के इसी मातृत्व के गौरव को स्मरण करती हुई कहती है—उसने गोतम-सा पुत्र जना, गोतम—जो अपने प्रयत्न से लोक में सम्यक् सम्बुद्ध हुआ, अन्धकार-ग्रस्त लोक के लिए जिसने ज्ञान का अक्षय दीपक जलाया, जिसका जीवन अपने लिये नहीं, बल्कि वहुतों के हित के लिए, सारी मनुष्य-जाति के हित के लिए उपयुक्त हुआ, उस गोतम को महा-माया ने जना। माता के लिए इससे अधिक गौरव की और क्या बात हो सकती है?

उपर्युक्त शब्द वडे सार्थक हैं। एक ओर जबकि वे बुद्ध-संदेश के विश्वजनीन रूप की ओर संकेत करते हैं, दूसरी ओर वे कहने वाले की विशाल मानवता का भी परिचय देते हैं। गोतमी वहुतों में से नहीं थी। वह शुद्धोदन की पत्नी थी, अभिजात वंश की थी।

किन्तु फिर भी वह जानती थी कि वास्तविक महत्ता वही है जो बहुतों के लिए हो, सब के लिए हो। बुद्ध के जीवन में उसने यही सबसे बड़ी बात देखी थी। इसीलिए उनकी माता होते हुए भी वह बाद में उनकी शिष्या बनी। उपर्युक्त मार्मिक शब्दों में गोतमी ने न केवल अपनी बड़ी बहन के प्रति अद्भुत श्रद्धाञ्जलि ही अर्पित की है, न केवल भगवान् बुद्ध के व्यक्तित्व के सबसे बड़े आकर्षण को ही व्यक्त किया है, बल्कि मानवीय सहानुभूति से भरे हुए अपने सौम्यतापूर्ण स्वभाव का भी एक परिचय सदा के लिये छोड़ा है।

भगवान् गोतम की माता (महामाया) बच्चा जनने के सातवें दिन परलोक चल बसीं। बच्चे का पालन-पोषण उनकी छोटी बहन महा-प्रजापती गोतमी ने किया। महाप्रजापती गोतमी का जन्म देवदह* नगर में सुप्रबुद्ध के घर में हुआ था। सुप्रबुद्ध कोलिय गणतन्त्र के प्रधान थे। उन्होंने अपनी दोनों कन्याओं का विवाह एक साथ राजा शुद्धोदन के साथ कर दिया था। जब महामाया मर गईं तो प्रजा-पती ने ही उनके बच्चे गोतम का पालन-पोषण किया। प्रजापती के अपना भी एक पुत्र था जिसका नाम था नन्द। गोतमी ने नन्द को तो दासियों को दे दिया और स्वयं बड़ी तन्मयता के साथ अपनी बड़ी बहन के पुत्र गोतम को पाला-पोसा। 'बुद्ध' के निर्माण में इस देवी का कितना हाथ था, यह हम उस कृतज्ञता और आदर से ही जान सकते हैं जो भगवान् अपनी इस क्षीरदायिका माता के प्रति सदा रखते थे। जैसा हम अभी देखेंगे, स्त्रियों को बुद्ध के शिष्यत्व का जो सौभाग्य मिला वह इसी देवी के आचार-गौरव के कारण।

९७ वर्ष की अवस्था में शुद्धोदन की मृत्यु हुई। उस समय

---

* लुम्बिनी वन के जहाँ भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था, उसी के समीप यह एक कस्बा (निगम) था।

भगवान् बुद्ध वैशाली में थे। पति की मृत्यु के बाद प्रजापती ने संसार छोड़ने की इच्छा प्रकट की। इसके लिए वह भगवान् बुद्ध से अनुमति लेने का अवसर खोज रही थी। सौभाग्यवश यह अवसर भी मिला और भगवान् कपिलवस्तु आये। शाक्य और कोलिय क्षत्रियों के बीच रोहिणी नदी के जल के ऊपर झगड़ा चल रहा था। उसीको शान्त करने के लिये भगवान् कपिलवस्तु आए थे। झगड़ा शान्त होने पर भगवान् ने 'कलहविवाद-सुत्त' का उपदेश दिया। द्वेषपूर्ण आचरणवाले (दोसचरितानं) मनुष्यों को लक्ष्य कर यह उपदेश दिया गया था। उसे सुनकर एक दम ५०० शाक्य घर छोड़ कर प्रव्रजित हो गए। उन सबकी स्त्रियों सहित प्रजापती भी प्रव्रज्या माँगने आ गई; परन्तु भगवान् ने उन्हें प्रव्रजित होने की अनुमति नहीं दी और वैशाली चले आये। बाद में आनन्द की कुशलता से वैशाली में प्रव्रज्या की आज्ञा मिली।

प्रव्रजित होने के बाद ही प्रजापती गम्भीर साधना में लग गई। भगवान् से अनेक बार हम उसे मार्ग पूछते देखते हैं। कोशाम्बीवासी कलह-प्रिय भिक्षु श्रावस्ती जा रहे हैं। गोतमी पूछती है, "मैं उनके साथ कैसे बरतूँ?" भगवान् उसे समझाते हैं, "गोतमी! तू दोनों ओर की बात सुन। दोनों ओर की बात सुनकर जो भिक्षु धर्मवादी हों उनकी दृष्टि तू पसन्द कर। भिक्षुणी-संघ को भिक्षु-संघ से जो कुछ अपेक्षा करना है वह सब धर्मवादी से ही करना चाहिए!" एक बार गोतमी भगवान् के पास जाकर पूछती है, "अच्छा हो भन्ते! भगवान् संक्षेप से मुझे धर्म का उपदेश दें, जिससे भगवान् से सुनकर एकाकी, प्रमाद-रहित हो मैं आत्मसंयम-पूर्वक विहार करूँ।" भगवान् उसे उपदेश देते हैं और गोतमी एकान्त-साधना में लग जाती है।

एक बार गोतमी ने अपने हाथ से एक नया धुस्से का जोड़ा बनाया और भगवान् को समर्पित करते हुए कहा, "भन्ते! यह अपना ही काता, अपना ही बुना, मेरा यह नया धुस्सा-जोड़ा भगवान् को

अर्पण है। भगवान् इसे स्वीकार करें।" भगवान् ने उसे अपने लिये अस्वीकार करते हुए कहा, "गोतमी! इसे संघ को दे दे। संघ को देने से मैं भी पूजित हूँगा और संघ भी।" गोतमी निराश हुई। आनन्द ने फिर उसके लिये वकालत की, किन्तु शास्ता ने समझाया कि प्रजापती के ही अधिक कल्याण के लिये उन्होंने ऐसा किया है। व्यक्तिगत दान की अपेक्षा संघ को दिया हुआ दान हर हालत में अच्छा है। संघ बुद्ध से भी बड़ा है। इसी प्रसङ्ग में उन्होंने 'दक्षिणा-विभंग-सुत्त, (मज्झिम ३।४।१२) का उपदेश भी दिया।

भगवान् प्रजापती का बड़ा आदर करते थे और उसके अति वृद्ध शरीर की सुविधा का बहुत ख्याल रखते थे। एक बार प्रजापती बीमार पड़ी। संघ के नियमानुसार भिक्षु उसकी सेवा करने नहीं जा सकते थे। भगवान् इस अवस्था में स्वयं ही उसकी सेवा में उपस्थित हुए और उसे उपदेश से सान्त्वना दी। १२० वर्ष की अवस्था में महाप्रजापती गोतमी ने परिनिर्वाण प्राप्त किया।

गोतमी ने एक उदात्त भाव-पूर्ण गाथा हमारे लिये छोड़ी है, जिस में उसका सौमनस्य, साधनापूत अनाविल जीवन और सबसे अधिक बुद्ध के प्रति अपार कृतज्ञता और श्रद्धा-भाव स्वच्छ दर्पण की भाँति प्रतिबिम्बित होते हैं। वह गाथा इस प्रकार है :

हे बुद्ध! हे वीर! हे सर्वोत्तम प्राणी! तुम्हें नमस्कार!
जिसने मुझे और अन्य बहुत से प्राणियों को दुःख से उबारा।
सब दुःखों के कारण का मुझे पता चल गया, उनके मूल
कारण वासना का भी मूलोच्छेदन कर दिया गया!
आज मैं दुःख-निरोध-गामी आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग में विचरण
करती हूँ।
माता, पुत्र, पिता, भाई, मातामही मैं पूर्व जन्मों में अनेक
बार बनती रही;
यथार्थ ज्ञान को न जानती हुई मैं लगातार संसार में

घूमती रही।
(फिर इस जन्म में), मैंने उन भगवान् बुद्ध के दर्शन किए,
(मुझे अनुभव हुआ) यह मेरा अन्तिम शरीर है! मेरा आवा-
गमन क्षीण हो गया, अब मुझे फिर जन्म लेना नहीं है !
पुरुषार्थ में लीन, आत्म-संयमी, नित्य दृढ़ पराक्रम करने
वाले, इन संघगत भिक्षुओं को अवलोकन करो—यह बुद्धों
की वन्दना है।
अहो! बहुतों के कल्याण के लिये ही (महा-) माया ने
गोतम को जना,
जिसने व्याधि और मरण से त्रस्त प्राणियों के दुःख-पुंज
को काट दिया !

पटाचारा

'मिलिन्द-प्रश्न' में राजा मिलिन्द (ग्रीक इतिहास के मिनांडर) ने भदन्त नागसेन से पूछा, "भन्ते ! प्रव्रज्या लेने का उद्देश्य क्या है ?" भदन्त नागसेन ने उत्तर दिया, "जो वेदनाएँ उत्पन्न हो चुकी हैं उनको सह कर शान्त कर देना और नई वेदनाओं को उत्पन्न न होने देना, यही प्रव्रज्या का उद्देश्य है ।" पटाचारा के जीवन को, जो गहरी करुणा से भरा हुआ है, हम इन शब्दों की भूमिका के साथ ही स्मरण करेंगे ।

पटाचारा श्रावस्ती के एक धनवान् सेठ की पुत्री थी । अवस्था प्राप्त होने पर वह घर के एक नौकर के प्रेम में फँस गई । जब उसके माता-पिता उसे कुलीन वर को देने की चेष्टा कर रहे थे, यह अबोध लड़की उस नौकर के साथ भाग गई । दोनों एक छोटे-से नगले में जाकर रहने लगे । समय पाकर पटाचारा गर्भवती हुई । पति से अनुनय-विनय की-स्वामिन् ! हम यहां अकेले रह रहे हैं । प्रसव-काल उपस्थित है । यदि आप आज्ञा दें तो मैं अपने माता-पिता के घर चली जाऊँ । पति ने बहाने बनाकर टालटमोल कर दी; परन्तु पटाचारा घबराई हुई थी । एक दिन पति की अनुपस्थिति में पड़ौस वालों से यह कर कि मेरे स्वामी से कह देना कि वह तो पिता के घर चली गई, वह अपने कुलघर को चल दी । जब पति ने उसे आकर न देखा तो बड़ा दुःखी हुआ । सोचने लगा, "हाय ! मेरे ही कारण इस कुल-कन्या की यह अनाथों की सी दुर्गति हुई ।" उसे ढूँढने के लिए उसी मार्ग से चल दिया । रास्ते में पटाचारा मिल गई । वहीं रास्ते में उसे

प्रसव हुआ। दोनों प्रसन्नता पूर्वक घर लौट आये।

दूसरी बार जब फिर पटाचारा गर्भवती हुई तो उसी प्रकार माता-पिता के घर चल दी। इस बार रास्ते में बड़े जोर की आँधी आई और घोर वर्षा होने लगी। पटाचारा ने पति से प्रसव के लिये कोई सुरक्षित स्थान बनाने को कहा। जैसे ही वह स्थान बनाने के लिये एक झाड़ी से लकड़ी काट रहा था, बामी में-से निकलकर एक साँप ने उसे डस लिया। वह वहीं बेहोश होकर गिर पड़ा और तत्काल मर गया। पटाचारा किसी प्रकार आँधी और वर्षा के बीच ही अरक्षित स्थान में पड़ी रही और उसी रात उसे प्रसव हुआ। अपने दोनों बच्चों को हृदय से लगाये वह प्रातः अपने पति को खोजने चल दी। जब उसे अपना पति मरा मिला तो वह फूट-फूटकर रोने लगी—"हाय! मेरे ही कारण मेरे पति की मृत्यु हो गई!" विलाप करती हुई वह दोनों बच्चों के साथ अपने पिता के घर चल दी। रास्ते में नदी पड़ती थी। उसे पार करने की शक्ति कहाँ थी? सोचा कि दोनों बच्चों को एक साथ लेकर तो पार करना मुश्किल है, अतः बड़े बच्चे को तो इस पार रख दिया और हाल के बच्चे को छाती से लगाकर वह दूसरे किनारे को चली। वहाँ पहुँच कर उसे कपड़े में लपेटकर एक झाड़ी में रख दिया और फिर दूसरे बच्चे को लेने के लिये इस किनारे पर आई। जैसे-जैसे वह नदी को पार कर रही थी, उसकी आखें अपने छोटे बच्चे की ओर लगी हुई थीं। नदी के बीच में आने पर उसने देखा कि एक बड़ा बाज उसे मांसपेशी समझ कर उस पर झपट रहा है और उसे ले जाने की कोशिश कर रहा है। बड़ी तालियाँ पीटीं, चीत्कार किया, किन्तु कुछ परिणाम नहीं हुआ। हाँ, इधर रक्खे हुए बच्चे ने यह सोचा कि मेरी माँ मुझे बुला रही है। वह झट पानी में कूद पड़ा और बह गया। छोटे पुत्र को बाज मार गया, बड़ा पुत्र पानी में डूबकर मर गया। पति भी गया, दोनों बच्चे भी! विलाप करती हुई पटाचारा अपने पिता के घर की ओर चल दी। रास्ते में उसे एक आदमी मिला। पटाचारा ने पूछा, "तू कहाँ का रहने

वाला है ?" आदमी ने उत्तर दिया, "माँ, मैं श्रावस्ती का रहने वाला हूँ।" इस पर पटाचारा ने अपने माता-पिता का कुशल-समाचार उससे पूछा। उसने उत्तर दिया, "आज रात सेठ, उसकी पत्नी और पुत्र, तीनों घर की छत गिर जाने से मर गये और एक ही साथ चिता में जलाये जा रहे हैं। देख मैया ! यह धुँवा उनका ही दिखाई दे रहा है।" ये शब्द सुनते ही पटाचारा पछाड़ खाकर धरती पर गिर पडी। फिर उसे अपने शरीर की चेतना नहीं रही। वह पागल हो गई और इधर-उधर विक्षिप्त अवस्था मे घूमने लगी। उसके मुँह से केवल यही शब्द सुने जाते थे "दोनों बेटे गये। पति भी रास्ते मे मर गया। माता पिता और भाई एक ही चिता मे जलाये जाते हैं।" अपने कपड़ों का भी उसे होश न था। वह नंगी ही इधर-उधर घूमती थी। यदि कोई उसे कपडे दे भी देता तो उन्हें फेंक देती थी। जन-समुदाय से अनेक प्रकार से अपमानित और बहिष्कृत होकर वह इधर-उधर घूमती थी।

शास्ता जेतवन में धर्मोपदेश कर रहे थे। पटाचारा भी घूमती हुई उधर आ निकली। आश्रमवासियों ने कहा, "यह पागल है, इसे इधर मत आने दो" (इमिस्सा उम्मत्तिकाय इतो आगन्तुं मा देथा' ति) किन्तु भगवान् ने उन्हें रोकते हुए कहा, "इसे मत रोको, (मा तं वारयित्था' ति) मेरे पास आने दो।" जैसे ही वह भगवान् से थोडी दूर पर थी, भगवान् ने उससे कहा, "भगिनी ! अपनी चेतना को प्राप्तकर (सतिं पटिलभ भगिनी)"। बुद्धानुभाव से पटाचारा को होश आगया और शरीर पर कुछ कपडा न होने के कारण उसे लज्जा की भावना भी हुई। एक आदमी ने उसके ऊपर कपडा डाल दिया जिसे उसने पहन लिया। पाँच बार उसने भगवान् की प्रदक्षिणा की और फूट-फूटकर रोने लगी। फिर बोली "देव ! मेरी रक्षा करो। मेरे एक पुत्र को बाज खा गया, दूसरा जल में डूबकर मर गया। रास्ते में पति की मृत्यु हो गई। माता, पिता, भाई सब एक ही चिता में जलाये गये। देव ! मेरी रक्षा करो।" भगवान् ने आश्वासन दिया, "पटाचारे !

तू चिन्ता मत कर। तू ऐसे ही व्यक्ति के समीप आ गई है जो तेरी रक्षा करने में समर्थ है।" (पटाचारे, मा चिन्तयि तव अवस्सयो भवितुं समत्थस्सेव सन्तिकं आगतासि)। भगवान् आगे बोले, "पटाचारे! जिस प्रकार तू आज पुत्रादिकों के मरण के लिये आँसू बहा रही है, उसी प्रकार इस अनादि संसार में पुत्रादिकों के मरण के लिए बहाये हुए तेरे आंसू चार महासमुद्रों के जल से भी बहुत अधिक हैं! पटाचारे! तेरे पुत्रादि तेरे शरण नहीं हो सकते। तू अपने शील का शोधन कर, जिससे तू निर्वाणगामी मार्ग को प्राप्त करेगी। पुत्र रक्षा नहीं कर सकते, और न पिता, न बन्धु लोग ही। जब मृत्यु पकड़ती है तो जाति वाले रक्षक नहीं हो सकते।" उपदेश सुनने के बाद पटाचारा का शोक कुछ कम हुआ और उसने प्रव्रज्या की आज्ञा माँगी। भगवान् ने उसे भिक्षुणियों के पास ले जाकर प्रव्रज्या दी।

निरन्तर धर्म का श्रवण और मनन करने से पटाचारा का दुःख दूर हो गया। वह उत्साह पूर्वक जीवन को उच्चतर भूमि में ले जाने के लिये प्रयत्नशील होने लगी। भिक्षुणियों में वह विनय की सब से बड़ी पंडिता मानी जाती थी। एक दिन घड़े में पानी भर कर वह पैर धो रही थी। उसने देखा कि पहले डाला हुआ पानी कुछ दूर पर जाकर सूख गया, फिर दूसरी बार डाला हुआ उससे कुछ अधिक दूर जाकर सूख गया, तीसरी बार डाला हुआ उससे भी कुछ आगे जाकर सूख गया। बस उसे समाधि का एक आलम्बन मिल गया। वह सोचने लगी—"पहली बार फैंके हुए पानी की तरह कुछ प्राणी प्रथम वयस् में ही मर जाते हैं, दूसरी बार फैंके हुए पानी की तरह कुछ प्राणी मध्यम वयस् में मरते हैं, तीसरी बार फैंके हुए पानी की तरह कुछ प्राणी अन्तिम वयस् में मरते है। सभी अनित्य हैं"। इस प्रकार पटाचारा सोच रही थी कि उसे भान हुआ कि समन्तचक्षु (चारों ओर आँख वाले) बुद्ध उसके सामने खड़े हुए कह रहे हैं, "पटाचारे! ठीक है, सभी प्राणी मरणधर्मा हैं।" बस पटाचारा को ज्ञान की प्राप्ति

हो गईं। अपनी ज्ञान-प्राप्ति का वर्णन करती हुई पटाचारा कहती है :

हल से भूमि को जोतकर मनुष्य उसमें बीज बोते हैं, इस प्रकार अपने स्त्री-पुत्रादि का पालन करते हुए वे धन उपार्जन करते हैं।
तो फिर क्यों न मैं साधिका निर्वाण को प्राप्त कर पाती?
मैं, जो कि शील से सम्पन्न हूँ, अपने शास्ता के शासन को करने वाली हूँ,
अप्रमादिनी हूँ, अचंचल और विनीत हूँ।
एक दिन पैर धोने के बाद फैंके हुए पानी को ऊँचे स्थल से नीचे की ओर जाते हुए देख,
मैंने अपने चित्त को, श्रेष्ठ जाति के घोड़े को सवारी में शिक्षित करने के समान, समाधि मे लगाया।
फिर मैं दीपक लेकर विहार के कोठे के अन्दर गई।
वहाँ जाकर प्रकाश में चारपाई पर बैठ गई और दीप-शिखा पर ध्यान करने लगी।
फिर सुई लेकर दीपक की वत्ती को जैसे ही नीची करने के लिये तेल में डुबोने लगी कि दीपक बुझ गया।
दीपक का बुझना (निर्वाण प्राप्त करना) था कि उसके साथ ही मेरी तृष्णा की लौ भी सदा के लिये बुझ गई।
मेरे चित्त का निर्वाण हो गया!

: ११ :

अम्बपाली

अम्बपाली को बौद्ध साहित्य में वही स्थान प्राप्त है जो पौराणिक साहित्य में पिंगला गणिका को या ईसाई धर्म-साधना में मेरी मेगूडिलिन को। सुना है, पिंगला हरि-नाम को स्मरण कर पाप-मुक्त हुई थी और मेगूडिलिन प्रभु यीशु के वस्त्र के छोर को स्पर्श कर। अम्बपाली ने भगवान् तथागत को अपने हाथ से भोजन परोस कर पवित्रता के दर्शन किये थे। हाँ, अपनी इन दोनों बहनों से अम्बपाली कुछ अधिक स्पष्ट जीवन-स्मृति हमारे लिये छोड़ गई है।

जिनके माता-पिता होते हैं, उनके माता-पिताओं का; जिनके बड़े कुल होते हैं उनके बडे कुलों का, जीवन चरित-लेखक रसपूर्वक वर्णन करते हैं; पर जिनके न माता-पिता हों, न बड़े कुल हों, उनके लिये तो क्या कहा जाय ? कहा गया है कि अम्बपाली वैशाली के राजोद्यान में आम के पेड़ के नीचे पैदा हुई थी, या यों कहिए कि वहाँ पडी हुई मिली थी। माली ने करुणापूर्वक सद्यःजात शिशु को उठा लिया और अपने घर वैशाली ले आया। आम (अम्ब) के पेड़ की मूल (पालि) में पाई जाने के कारण लड़की का नाम 'अम्बपाली' रख दिया गया। वह जैसे-जैसे बढती गई, उसकी सौन्दर्य-ज्योति अधिकाधिक प्रकाशित होती गई, यहां तक कि अवस्था प्राप्त होते-होते वह वैशाली प्रदेश की सबसे अधिक सुन्दर स्त्री (जनपद-कल्याणी) ही मानी जाने लगी। अनाथ लडकी अपनी सौन्दर्य-सम्पत्ति से अपने लिये एक प्रभाव पैदा करने लगी। बड़े-बड़े लिच्छवि सरदारों ने (वैशाली लिच्छवियों का

गणतन्त्र था) उसके साथ विवाह का प्रस्ताव रक्खा। आपस में प्रतिस्पर्धा भी होने लगी, यहाँ तक कि लड़ने की नौबत आगई। लिच्छवि क्षत्रिय बड़े अभिमानी थे। फिर प्रणय और युद्ध! पर अन्तिम समय सुबुद्धि आगई। उस समय भारतीय राजनीति-मण्डल में गणतंत्र-शासन-प्रणाली का बोलबाला था। पंचायत की गई। प्रेमी राजकुमारों का मामला था और फिर झगड़े को निबटाना था। यह तय किया गया कि अम्बपाली अपने सभी चाहने वाले राजकुमारों की सामान्य पत्नी बन कर रहे। 'सब्बेसं होतु' अर्थात् सबकी होकर रहे। अभिजात वर्ग के लोगों में उस समय भी भ्रष्टाचार था ही। स्वयं राजा बिम्बिसार अम्बपाली के संरक्षकों में से एक था।

बड़ी ऋद्ध, स्फीत, समृद्धिशाली थी वैशाली नगरी! लिच्छवियों का गणतन्त्र उसमें अपनी पूरी सफलता और शक्ति देखता था। जहाँ-तहाँ मनुष्यों से आकीर्ण सड़कें, धन-धान्य से पूरित घर, देवताओं की-सी लिच्छवियों की परिषदें! नगर की सजावट और निर्माण सभी एक सुन्दर और व्यवस्थित भवन-निर्माण-कला के आधार पर हुए थे। ७७७७ प्रासाद, ७७७७ कूटागार, ७७७७ उपवन और ७७७७ ही पुष्करिणियाँ उस नगर में थीं। पर सबसे बड़ी सुन्दरता उस नगर की थी अम्बपाली! अम्बपाली परम रूपवती, नृत्य, गीत और वाद्य में अत्यन्त निपुण थी। कहा गया है कि उससे वैशाली नगरी और भी अधिक प्रसन्न और सुशोभित दिखाई पड़ती थी।

अपने जीवन के अन्तिम दिनों में भगवान् बुद्ध पर्यटन करते हुए वैशाली के समीप आ निकले। उनके साथ उनके शिष्य आनन्द और कुछ अन्य भिक्षु भी थे। वैसे वैशाली में भगवान् के ठहरने का स्थान महावन का कूटाराम भी था, किन्तु इस बार तथागत ने अम्बपाली के उस आम्रवन में ही रात बिताई, जो उसने अपने रहने के लिये बनवाया था। अम्बपाली ने सुना—भगवान् वैशाली में आये हैं और मेरे ही आम्रवन में ठहर रहे हैं। सवारी सजाकर भगवान् के दर्शनों

के लिये चल पड़ी। जितनी दूर सवारी से जा सकती थी, गई। फिर उतर पड़ी और पैदल ही जहाँ भगवान् थे, वहाँ गई। भगवान् का अभिवादन कर एक ओर नीचे बैठ गई। भगवान् ने उसे उपदेश दिया। उपदेश सुनने के बाद अम्बपाली ने प्रार्थना की, "भन्ते! भिक्षु-संघ के साथ भगवान् मेरा कल का भोजन स्वीकार करें।" समदर्शी मुनि ने मौन से स्वीकार किया।

भगवान् के दर्शन कर लौटती हुई अम्बपाली के हर्ष की सीमा नहीं थी। उसने सम्यक् सम्बुद्ध को निमन्त्रित किया था! वह उन्हें अपने हाथ से परोस कर भोजन से तृप्त करेगी। इस सौभाग्य को समझने वाली गणिका के अन्दर पवित्रता के संस्कार हैं, इसमें सन्देह नहीं। रास्ते में उसे लिच्छवि-कुमार अपने रथों पर सवार होकर आते हुए मिले। वे भी भगवान् बुद्ध के आगमन को सुनकर उनके स्वागतार्थ जा रहे थे। पर आज उन्हें अम्बपाली क्या समझे? वह लिच्छवियों के रथों के धुरों से धुरा, चक्कों से चक्का, जुए से जुआ टकरा कर जा रही थी।

"अरी अम्बपाली! क्यों तू लिच्छवियों के धुरों से धुरा टकरा कर चलती है?"

"आर्यपुत्रो! क्योंकि मैंने भगवान् बुद्ध को भिक्षु-संघ के साथ कल के भोजन के लिये निमन्त्रित किया है।"

"तो अम्बपाली! हम तुझे सौ हजार कार्षापण देंगे। तू भगवान् को हमें भोजन से तृप्त करने दे।"

"आर्यपुत्रो! यदि सारा वैशाली-जनपद भी दे दो तो भी इस भोजन को न दूँगी।"

लिच्छवि-कुमार निराश होकर आगे बढे। भगवान् के चरणों में जाकर अभिवादन किया और प्रार्थना की, "भन्ते! भिक्षु-संघ के साथ भगवान् हमारा कल का भोजन स्वीकार करें।" भगवान् का उत्तर था, "लिच्छवियो! कल तो मैंने अम्बपाली गणिका का भोजन स्वीकार कर लिया है।"

मध्याह्न के समय भगवान् भिक्षु-संघ सहित अम्बपाली के घर पहुँच गए। गणिका ने अपने हाथ से भगवान् और भिक्षु-संघ को भोजन परोसा। भोजनोपरान्त, एक नीचा आसन ले, एक ओर बैठ गई। उपदेश के अनन्तर अम्बपाली बोली, "भन्ते! मैं इस उपवन को बुद्ध-प्रमुख भिक्षु-संघ को देती हूँ।" भगवान् ने मौन भाव से स्वीकार किया। भगवान् आसन से उठकर चल दिए।

बस इतने से प्रकरण का अम्बपाली के ऊपर स्थायी प्रभाव पड़ा। उसे अपनी वास्तविक कुरूपता का पता चला। अभी तक वह काम-प्रीति में ही अनुरक्त और प्रसन्न थी। अब उसके सामने जीवन का एक नया मार्ग खुल गया। अपने पुत्र विमल कौण्डन्य (जिस वेश्या-पुत्र को तथागत का शिष्यत्व—अर्हत् कोटि का शिष्यत्व—मिल चुका था) के उपदेश से एक दिन केश कटवा कर अम्बपाली भिक्षुणी हो गई। उसने समाधि की उच्चतम अवस्था का स्पर्श किया और पूर्णता-प्राप्त भिक्षुणियों में से वह एक हुई। अपने निरन्तर जर्जरित होते हुए शरीर में बुद्ध-वचनों की सत्यता को प्रतिफलित होते देख अम्बपाली हमारे लिये कुछ उद्गार छोड़ गई है, जो अनित्यता की भावना से भरे हुए हैं। वह कहती है:

काले, भौंरे के रंग के समान, जिनके अग्र भाग घुँघराले हैं, ऐसे एक समय मेरे बाल थे।
वही आज जरावस्था में जीर्ण सन के समान हैं, सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।
पुष्पाभरणों से गुँथा हुआ मेरा केशपाश कभी हजारा चमेली के पुष्प की सी गन्ध वहन करता था।
उसी में से आज जरावस्था में खरहे के रोओं की-सी दुर्गन्ध आती है—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।
कंघी और चिमटियों से सजा हुआ मेरा सुविन्यस्त केश-

पाश कभी सुन्दर रोपे हुये सघन उपवन के सदृश शोभा पाता था।

वही आज जराग्रस्त होकर जहाँ-तहाँ से बाल टूटने के कारण विरल हो गया है—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

सोने के गहनों से सुसज्जित, महकती हुई सुगन्धियों से सुशोभित, चोटियों से गुँथा हुआ कभी मेरा सिर रहा करता था।

वही आज जरावस्था में भग्न और नीचे लटका हुआ है—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

चित्रकार के हाथ से कुशलतापूर्वक अङ्कित की हुई जैसे मेरी दो भौंहें थीं।

वही आज जरा के कारण झुर्रियाँ पड़ कर नीचे लटकी हुई हैं—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

गहरे नीले रंग की दो उज्ज्वल, सुन्दर, मणियों के समान मेरे दो विस्तृत नेत्र थे।

वही आज बुढ़ापे से अभिहत हुए भद्दे और आभाहीन हैं—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते !

उठते हुए यौवन की सुन्दर शिखर के समान वह मेरी कोमल, सुदीर्घ नासिका थी।

वही आज जरावस्था में दबकर पिचकी हुई है—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

पूरी कारीगरी के साथ बनाए हुए, सुगठित कंकण के समान, कभी मेरे कानों के सिरे थे।

वही आज जरावस्था में झुर्री पड़कर नीचे लटके हुए हैं—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

कदली-पुष्प की कली के समान रंगवाले कभी मेरे सुन्दर दाँत थे।

वही आज जरावस्था में खंडित होकर जौ के समान पीले रंग वाले हैं—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

वनचारिणी कोकिला की मधुर कूक के समान एक समय मेरी प्यारी मीठी बोली थी।

वही आज जरा के कारण स्खलित और भर्राई हुई है—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

अच्छी प्रकार खराद पर रक्खे हुए, चिकने शंख के समान, एक समय मेरी सुन्दर ग्रीवा थी।

वही आज जरावस्था में टूटकर नीचे लटकी हुई है—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

सुगोल गदा के समान एक समय मेरी दोनों सुन्दर बांहें थीं।

वही आज जरावस्था में पाडर वृक्ष की दुर्बल शाखाओं के समान हैं—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

सुन्दर मुँदरी और स्वर्णालङ्कारों से विभूषित कभी मेरे हाथ रहते थे।

वही आज जरा के कारण गाँठ-गठीले हैं—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

स्थूल, सुगोल, उन्नत, कभी मेरे स्तन सुशोभित होते थे।

वही आज जरावस्था में पानी से रीती लटकी हुई चमड़े की थैली के सदृश हैं—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

सुन्दर, विशुद्ध, स्वर्ण-फलक के समान कभी मेरा शरीर चमकता था।

वही आज जरावस्था में झुर्रियों से भरा हुआ है—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

हाथी की सूँड़ के समान कभी मेरे सुन्दर उरु-प्रदेश थे।
वही आज पोले बाँस की नली के समान हो गये हैं—सत्य-वादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।
सुन्दर नूपुर और स्वर्णालङ्कारों से सजी हुई कभी मेरी जंघाएँ रहती थीं।
वही आज जरावस्था में तिल के सूखे डठल के समान हो गई हैं—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।
सुन्दर, सुकोमल रुई के फाहे के समान कभी मेरे दोनों पैर थे।
वही आज जरावस्था में झुर्रियाँ पड़कर सूखे (काठ) से हो गये हैं—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।
एक समय यह शरीर ऐसा था। इस समय वह जर्जर और बहुत दुःखों का घर है।
जीर्ण घर जैसे बिना लिपाई-पुताई के गिर जाता है, उसी प्रकार यह जरा का घर (शरीर) बिना थोड़ी सी रखवाली किये गिर जायगा—सत्यवादी (तथागत) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

: १२ :

खुज्जुत्तरा

खुज्जुत्तरा एक दासी थी। कौशाम्बी-नरेश उदयन की रानी श्यामावती (सामावती) की सेवा में वह नियुक्त थी। उसका वास्तविक नाम था उत्तरा; किन्तु शरीर से कुबड़ी होने के कारण वह 'खुज्जुत्तरा' (कुब्जा उत्तरा) पुकारी जाती थी। खुज्जुत्तरा का काम यह था कि वह प्रतिदिन रानी के लिये आठ कार्षापण* के मूल्य के फूल बाजार से लाती थी। उसमें से वह प्रतिदिन चार कार्षापण बचाकर सिर्फ चार के ही फूल लाकर देती थी। इस तरह वह चोरी करती थी।

एक दिन आठ कार्षापण लेकर वह बाजार में फूल लेने गई। रास्ते में उसने देखा कि एक चीरकाय, किन्तु अद्भुत तेज से वेष्टित, काषाय वस्त्रधारी श्रमण, शान्त बैठी हुई परिषद् को धर्मोपदेश कर रहा है। खुज्जुत्तरा भी कुतूहलवश खड़ी हो गई और सुनने लगी। श्रमण उदात्त स्वर में कह रहा था, "गृहपतियो! क्या है सम्यक् दृष्टि? गृहपतियो! जिस समय मनुष्य दुराचरण को पहचान लेता है, उसके मूल कारण को पहचान लेता है, इसी प्रकार जब वह सदाचरण को पहचान लेता है, उसके मूल कारण को पहचान लेता है, उस समय उसकी दृष्टि सम्यक् कहलाती है।" संन्यासी मानो वचन ही नहीं बोल रहा था, वह आत्म-पर्यवेक्षण के लिये अपने श्रोताओं को प्रेरित ही कर रहा था। खुज्जुत्तरा भी अभिभूत हुए बिना नहीं रही। सोचते-विचारते आगे बढ़ी।

---

* कार्षापण, उस समय का एक सिक्का।

उस दिन खुज्जुत्तरा की उँगलियों ने फूलों के दूकानदार को पूरे आठ कार्षापण ही दिए। ढेर से फूल लेकर प्रसन्नचित्त हो स्वामिनी के पास आई। अब तो प्रतिदिन खुज्जुत्तरा आठ कार्षापण के ही फूल लाती। जब कभी उसे अवसर मिलता, अपने शास्ता के उपदेशों को सुनने के लिये भी अवश्य जाती। धर्म-श्रद्धा धीरे-धीरे बढ़ने लगी, साथ ही विचारात्मक शक्ति और आचार के गौरव की भावना भी। जब कुछ दिन अधिक फूल लाते बीत गए तो श्यामावती से एक दिन बिना पूछे न रहा गया, "उत्तरा ! तू पहले भी आठ कार्षापण के फूल लाती थी और अब भी आठ कार्षापण के ही लाती है। पर पहले से अब बहुत अधिक फूल आ रहे हैं। इसका कारण क्या है ? सच-सच बता।" उत्तरा ने न केवल सब बात ठीक-ठीक बता दी, अपितु अपने पूर्व अपराध को स्वीकार करते हुए उसके लिये क्षमा भी माँगी। रानी को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसकी दासी के अन्दर इतना आचार-गौरव ! एक श्रमण के वचनों का उसके जीवन पर इतना प्रभाव ! रानी ने कहा, "खुज्जुत्तरा ! जो तूने अपने शास्ता के मुख से धर्म सुना है, उसे मुझे भी सुना।" खुज्जुत्तरा ने रानी के समक्ष उस धर्म को दुहराया। अन्य सब दासियों ने भी सुना। रानी ने इसके लिये खुज्जुत्तरा का बड़ा उपकार माना। उसने उसे अपनी माता के स्थान पर बिठाया। उसके वचनों और व्यक्तित्व में उसका गहरा विश्वास हो गया। अब खुज्जुत्तरा राज-माता हो गई। प्रतिदिन वह भगवान् बुद्ध के उपदेश को सुनने जाती और उसे रानी और उसकी सेविकाओं के सामने दुहराती। श्यामावती की श्रद्धा भी भगवान् बुद्ध में बढने लगी। उसने अपने महल की दीवार में एक छेद करवा लिया, जिसमें होकर वह भगवान् बुद्ध के दर्शन करती जब वे उधर से गुजरते। इस सब का श्रेय वह खुज्जुत्तरा को ही देती। धीरे-धीरे खुज्जुत्तरा ने भी उपदेश सुनते-सुनते अधिकांश बुद्ध वचनों को कंठस्थ कर लिया, पर वह पूरे रास्ते तक नहीं जा सकी। खुज्जुत्तरा भिक्षुणी नहीं हुई। घर का कामकाज

करते रहते ही श्रमिका खुज्जुत्तरा ने बुद्ध-शासन को पूरा किया ।

खुज्जुत्तरा को धर्म पुस्तकों या चैत्यों से नहीं मिला था । यह प्रत्यक्ष जीवन में मिला था और सीधे जीवन में ही गया था । जिस क्षण उसे धर्म का साक्षात्कार हुआ, उसी क्षण उसका आचरण भी शुरू हुआ । उसका ज्ञान न केवल 'जानना' था, किन्तु जीवन में उसका साक्षात्कार भी कर लिया गया था । खुज्जुत्तरा ज्ञान का जीवन में दर्शन करने-वाली प्रथम कोटि की साधिका थी । उस सर्वथा निम्न श्रेणी-वाली, समाज के उपेक्षित वर्ग की प्रतिनिधि-स्वरूपा, खुज्जुत्तरा का भाग्य उस दिन विश्व इतिहास में चमक उठा जब उसे, उसकी मात्र सदाचार-वृत्ति के लिये अमर बनाते हुए, लोक-गुरु ने एक दिन अपनी शिष्य-शिष्याओं की भरी सभा में, जिसमें अनेक ज्ञान-सम्पन्न साधक और साधिकाएँ उपस्थित थे, अपने स्वर को ऊँचा करते हुए घोषित किया, "भिक्षुओ ! मेरी बहुश्रुता उपासिका शिष्याओं में यह खुज्जुत्तरा ही सर्वश्रेष्ठ है ।" गहन-से-गहन दार्शनिक या वैज्ञानिक चिन्तन करना सरल है, किन्तु जीविका को सुधारना कठिन है । समाज में जिसकी जैसी स्थिति है, वैसी ही उसकी चोरी भी है । व्यापक चोरी अनेक प्रच्छन्न रूपों में हमारे सामने आती है । बिना सूक्ष्म प्रत्यवेक्षण और कठिन प्रयत्नों के उसके मोहक जालों से बचना सम्भव नहीं । खुज्जुत्तरा की ओर आज हमारी श्रद्धा इसीलिये सबसे अधिक जाती है कि उसका धर्म का अभ्यास बहुत ठीक जगह से आरम्भ हुआ । बुद्ध-शासन की विश्व-जीवन को मूल देन भी यही है । लोक-जीवन पर श्रमण गौतम के इसी दीर्घ शासन को देखकर लोगों ने कहा—"यह भगवान देव और मनुष्यों के शास्ता हैं, मनुष्यों को धर्मी बनाने में अद्वितीय सारथी-स्वरूप हैं ।"